श्रीहरिः

परिचय

...वा।
...आदिकवि के
...निदर्शन है।

संकलयिता

शान्तिप्रिय द्विवेदी

प्रकाशक

साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

...थमावृत्ति] १९८३ [मूल्य १)

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा
साहित्य प्रेस, चिरगाँव में मुद्रित
और साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)
द्वारा प्रकाशित ।

सुनिए

कविता कविहृदय की विदूरभूमि में वेदना-बहुल भावों के आघात-प्रत्याघात की गंभीर गर्जना से स्वयं उगजाने वाली रत्नशलाका है। आदिकवि के शोक का अकस्मात् श्लोक बन जाना इसका निदर्शन है।

अथवा यह कल्पना-कल्पलता की अधखिली कली है। इस लता का आलवाल गगन नहीं—हृदयस्थली है। भावना की भूमि पर प्रतिभा की सहज प्रभा और स्नेह की सिंचाई से वह उगती है। कलिका के आमोद का आनन्द लेना केवल मन-मधुकर के हाथ है। मधुकर जितना ही रसज्ञ मधुलोलुप उपचारचतुर प्रणयी होगा वह उतना ही उसे प्यार करेगी। दोनों के प्रणय-सूत्र में बँध जाने पर—सहृदयता होने पर—सर्वस्व समर्पण करते क्या देर?

अच्छा यह कली अधखिली क्यों? क्या इसका पूर्ण विकास नहीं होता? क्या इसके शैशव और यौवन का सन्धिवेला ढलती ही नहीं? नहीं, सचमुच नहीं; क्योंकि वह इसके दयित जनों को अभिवाञ्छित नहीं। पूर्णता का परिणाम दुःसह अवसान जो है! दूसरे कली को भी यह बात कब भली लगेगी कि, गली गली

उसका चिरलालित लावण्य एवं चिरसंचित सौरभ सभी के लिए बिखेर दिया जाय। जिसने अपना अवगुण्ठन खोला, उसका रहस्य खुल गया। जब रहस्य ही नहीं तो उत्सुकता और कौतुक किसके निमित्त? जब वे ही नहीं तो कैसा रसास्वाद और कैसी विदग्धता! पत्रावली के अन्तराल से झाँकने वाली ज्योत्स्ना, स्निग्ध श्यामल जलद-पटल की ओट में दमकने वाली सौदामिनी का मोल कुछ और ही है। इस प्रकार का मोहन आत्म निगूहन ही उसका रहस्य है, यही उसकी छाया या माया है। इसके साक्षात्कार का सुख भी आत्मसंवेद्य है, व्याख्येय नहीं। परम रसज्ञा विज्जका ने पुलकोद्‌गम और मौनावलम्बन से ही की गई काव्यानन्द की सूचना को प्रणाम किया है—

कवेरभिप्रायमशब्द गोचरं स्फुरन्त मार्देषु पदेषु केवलम्।
वदद्भि रङ्गैः कृतरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णींभवतोऽयमञ्जलिः॥

इस देदीप्यमान रसशलाका अथवा रस-निर्भर स्वयं-सुन्दर कलिका को अनपेक्षित अलङ्करणों से लादना, या तो, भास्वर स्वर्ण पर मुलम्मा करना, कमलिनी पर चित्र बनाना, मधुमालती पर इत्र छिड़कना, बर्फ को चिकना करना, इन्द्रधनुष में रंग जोड़ना, चन्द्रिका को चन्दन से लीपना, मधु को जूसी से मीठा करना अथवा मोतियों पर आब लाने के लिए उन्हें सान पर चढ़ाना है या कपड़े के कृत्रिम कुसुम बनाकर मधुपों को धोखा देना है।

वह शरीर नहीं आत्मा है, छायावान् नहीं छाया है, कोल

कोई नहीं लावण्य है जिसे कवित्व कहते हैं। देखिए आनन्द-वर्धन क्या कहते हैं—

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

अनाहूत एवं स्वयमागत शब्दों के द्वारा इसी लावण्य अथवा छाया का निर्देश करना छायावाद की कविता है। इस निर्देश की कोई निर्दिष्ट शैली नहीं हो सकती। हृदय में वेदना चाहिए, वह स्वयं अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ़ लेती है। हठवश जो पुरानी लीक पर ही लुढ़कना चाहते हैं उनसे तंग आकर ही विह्लण ने कहा था—

द्राघीयसा धाष्टर्यगुणेन युक्ताः
कैः कैरपूर्वैः परकाव्यखण्डैः।
आडम्बरं ये वचसां वहन्ति
ते केऽपि कन्थाकवयो जयन्ति।

अस्तु! प्रस्तुत पुस्तक में एक 'शान्तिप्रिय' मधुप ने कुछ चुनी हुई कलियों से आपका परिचय करा देने का उपक्रम किया है। यदि आप रसज्ञ अलि हैं तो, आइए कली कली रस लीजिए और इस उद्यमी मधुकर को आशीर्वाद देकर कृतकृत्य कीजिए—

ग्रीष्मावकाश
संवत १९८१

केशवप्रसाद मिश्र।

विन्दु

स्थवीयसी नैव कवेस्तनुस्तनु—
स्तनीयसी तत्कविताप्रतानिनी ।
यदीहते तत्परिरम्भणं तदा
हृदेव हित्वान्यदपोह्य वर्त्तताम् ॥

—केशवस्य

(१)

कवि—सृष्टि के रंगमंच का गायक है।

इस रंगमंच के दृश्य स्वभावतः दुखान्त और सुखान्त हैं, अतः कवि के गीत भी कभी सुखों के क्षीरसागर में घुले हुए और कभी दुखों के वाड़व में खौले हुए होते हैं। इन दुखान्त और सुखान्त दृश्यों के कारण ही काव्य के प्राण—कभी करुण, शान्त और शृंगार रस में और कभी वीर, वीभत्स, रौद्र तथा भयानक रसों में तिरते रहते हैं।

इस रंगमंच की दृश्यपटी ज्यों-ज्यों खसकती जाती है, त्यों-त्यों कवि की भाषा और भाव भी बदलते जाते हैं। इसी परिवर्तन के साथ-साथ कवि की कविता के रंग-रूप नये-नये छन्दों और नये-नये अलंकारों से बोझिल होकर सदा सामयिक बने रहते हैं।

एक दिन भारतीय-दृश्यपटी में वह वासंतिक स्वर्ण-प्रभात था—

"स्वर्ग की सुषमा जब साभार
धरा पर करती थी अभिसार;"

इस सुखान्त दृश्य के साथ-साथ यहाँ कभी पंचगव्यों से पवित्र—माखन-मिश्री से स्निग्ध कलकण्ठों ने ब्रजभाषा में शृंगार के रसीले गीत गाये, भक्ति-रस के सात्विक विन्दु टपकाये ! आह, कहाँ हैं अब वे सुनहले दिन ! ! बड़े-बड़े दृश्य बदल गये, दुख और सुख के हज़ारों नज़ारे अतीत-पट पर झलमला रहे हैं !

आज हम देख रहे हैं—भारतीय दृश्यपटी के ऊपर वेदना और करुणा अपनी-अपनी अभिनय-कला दिखला रही हैं। यहाँ अब न तो ब्रजनागरियों के मटके में छाछ है और न "छछिया-भर छाछ पै" नाच नाचने वाले वे नवल नटनागर-श्याम। इसी लिए आज हिन्दी-कविता एक नई भाषा और नये भावों में झंकृत हुई। 'खुसरो' और 'कबीर' की इसी खड़ी बोली में एक नई कूक सुनाई पड़ी है। इस कूक में निखिल संसृति की व्यथा है, करुणा है, कसक है, सहानुभूति और स्नेह है। यह कूक मानव-हृदय को ही न स्पन्दित कर, प्रकृति की जड़ और चेतन वस्तुओं को भी अपनी ओर खींच रही है।

आज के नये कवियों ने अपनी वेदनाओं को, अपने थोड़े-से उल्लास और उत्साह को कहीं लहरों में, कहीं तारों में, कहीं 'पल्लवों'

में और कहीं चतुर्दिक के दुख-सुख का भार लेकर डोलने वाले सन्-सन् समीरण में बाँट दिया है। इस विभाजन से ही उनके हृदय कभी-कभी हृत्कंपन में तरंगित होकर थोड़ी देर तक सुख के भी एकाध मधुर-पद गुनगुना लेते हैं।

(३)

भारतीय-दृश्यपटी ने जहाँ भावों में परिवर्तन कर दिया, वहाँ कविता के अलंकार और पिंगल में भी उलटफेर होनी ही चाहिये। नूतन कवि कहता है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
अर्द्ध-विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये ! छोड़ कर बन्धनमय छन्दों की छोटी-राह।
गजगामिनि ! वह पथ तेरा संकीर्ण-कंटकाकीर्ण
कैसे होगी उससे पार ?
काँटों में अञ्चल के तेरे तार निकल जाएँगे
और उलझ तेरा जाएगा हार।
जिसको अभी-अभी पहनाया
किन्तु नज़र भर देख न पाया—कैसा सुन्दर आया !

* * * *

—निराला

शताब्दियों बाद पिंगल के पुराने तार टूट गये, छन्दों ने नये-नये स्वर पाये; अलंकारों को नई-नई उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं से नया आलोक मिला। अपने श्वासों के प्रवाह में, अपने भावों के क्षण-क्षण के आरोह-अवरोह में, छन्दों को नई गति से बहा कर आज के कवियों ने ब्रज की कविता-कामिनी को विश्ववादिनी बना दिया है। बन पड़े तो, स्वागत कीजिये।

चिरकाल से हमारी आँखें कविता के वाह्य रूप पर ही लुभा रही थीं, हमने उसके ऊपरी हाव-भाव, साज-बाज एवं चमक-दमक को खूब देखा है पर, यह नहीं देख पाया कि उस अलंकारमयी सुन्दरी का हृदय क्या और कहाँ है! उसके अन्तरतम में भावों के कितने स्रोत, किस गति से, किन-किन दिशाओं की ओर बहते रहते हैं अथवा उसके भीतरी क्रीड़ा-कौतुक क्या हैं;—यही तो देखने और समझने की बातें हैं। हाँ, इसके लिये इन "अपराजिता-सी कोमल-श्याम-पुतलियों"—वाली दो आँखों के साथ ही अन्तर्दृष्टि की भी आवश्यकता है। बस।

शारदोत्सव,
सं० १९८३

शान्तिप्रिय द्विवेदी

Read from some humbler Poet,
Whose songs gushed from his heart,
As showers from the clouds of summer,
Or tears from the eye lids start;

—H. W. Longfellow.

अनुक्रमणिका

———

जयशंकर 'प्रसाद'

जन्म—संवत् १९४६ जन्मभूमि—गोबरधनसराय

काशी

उसके रंग-रंग में मादकता भरी हुई है, वह मादकता—जो मूर्छित मदिरा को सौ-सौ बोतलों में भी नहीं !

क्या भावुकता में मादकता नहीं है ? है, बहुत है।

हाँ तो, शंकर के ताण्डव-नृत्य की-सी स्वच्छन्द और व्रजनागर की-सी श्रीमयी भावुकता से ही उसके तन-मन का संगठन हुआ है।

वह द्वैत भावों का अद्वैत रूप है।

अव्यवस्थित

विश्व के नीरव-निर्जन में—
जब करता हूँ बेकल, चंचल—
मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसी हलचल
तब होता है भ्रान्त;
भटकता है भ्रम के वन में
विश्व के कुसुमित कानन में।

जब लेता हूँ आभारी हो—
बल्लरियों से दान,
कलियों की माला बन जाती
अलियों का हो गान;
विकलता बढ़ती हिम-कन में
विश्वपति, तेरे आँगन में—
जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
कर संकलित विचार;
तभी कामना के कंकण की होती है झनकार;
चमत्कृत होता हूँ मन में
विश्व के नीरव-निर्जन में।

विषाद

कौन प्रकृति के करुण-काव्य-सा
वृक्षपत्र की मधु छाया में,
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है
अमृत-सदृश नश्वर काया में ?

अखिल विश्व के कोलाहल से—
दूर सुदूर निभृत निर्जन में,
गोधूली के मलिनाञ्चल में
कौन जंगली बैठा वन में ?

शिथिल पड़ी प्रत्यंचा किसकी ?
धनुष भग्न, सब छिन्न जाल है;
वंशी नीरव पड़ी धूल में
तरकस का भी बुरा हाल है।

किसके तममय अन्तरतम में
झिल्ली की झनकार हो रही ?
स्मृति सन्नाटे से भर जाती
चपला ले विश्राम सो रहा।

किसके अन्तःकरण-अजिर में
अखिल व्योम का लेकर मोती,
आँसू का बादल बन जाता
फिर तुषार की वर्षा होती ?

विषय-शून्य किसकी चितवन है
ठहरो पलक, अलक में आलस ?
किसका यह सूखा सुहाग है ?
छना हुआ किसका सारा रस ?

निर्झर कौन बहुत बल खाकर
बिलखाता, ठुकराता फिरता,
खोज रहा है स्थान धरा में
अपने ही चरणों में गिरता ?

किसी हृदय का यह विषाद है
छेड़ो मत, यह सुख का कण है;
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का यह थका चरण है !

———

बालू की बेला

आँख बचा कर किरकिरा न कर दो इस जीवन का मेला;
कहाँ मिलोगे ?–किसी विजन में ? न हो भीड़ का जब रेला।
दूर ! कहाँ तक दूर ? थका भरपूर चूर सब संग हुआ,
दुर्गम पथ में विरथ दौड़ कर खेल न था हमने खेला।
कहते हो–"कुछ दुःख नहीं," हाँ, ठीक ! हँसी से पूछो तुम;
प्रश्न करो टेढ़ी-चितवन से, किस-किस को किसने झेला ?
आने दो मीठी-मीड़ों से नूपुर की झनकार, रहो !
गलबाहीं दे हाथ बढ़ाओ, कह दो–प्याला भर दे, ला।
निठुर इन्हीं चरणों में मैं रत्नाकर हृदय उलीच रहा,
पुलकित, प्लावित रहो, बनो मत सूखे-बालू की बेला।

किरण

किरण, तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण-सरसिज किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु-पराग ।

धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश,
मधुर-मुरली-सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल-
वेदना-दूती-सी तुम कौन ?

अरुण-शिशु के मुख पर सविलास
सुनहली-लट घुँघुराली कान्त,
नाचती हो—जैसे, तुम कौन ?
उषा के अञ्चल में अश्रान्त ।

भला, उस भोले मुख को छोड़
चली हो किसे चूमने भाल,
खेल है कैसा—या है नृत्य ?
कौन देता है सम पर ताल ?

कोकनद मधुधारा-सी तरल,
विश्व में बहती हो किस ओर,
प्रकृति को देती परमानन्द
उठाकर सुन्दर सरस हिलोर।

स्वर्ग के सूत्र-सदृश तुम कौन?—
मिलाती हो उससे भूलोक,
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध—
बना दोगी क्या विरज, विशोक?

सुदिनमणि-वलय विभूषित उषा—
सुन्दरी के कर का संकेत,
कर रही हो तुम किसको मधुर
किसे दिखलाती प्रेम-निकेत?

चपल, ठहरो—कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त;
सुमन-मन्दिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया-वहाँ बसन्त।

रूप

ये बङ्किम भ्रू युगल कुटिल कुन्तल घने
नील-नलिन-से नेत्र चपल मद से भरे ।
अरुण-राग-रञ्जित कोमल हिमखण्ड-से
सुन्दर गोल कपोल; सुढर नासा बनी ।
धवल-स्मित जैसे शारद घन-बीच में
(जो कि कौमुदी से रञ्जित है हो रहा)
चपला-सी है ग्रीवा हंसी से बढ़ी ।
रूप-जलधि में लोल लहरियाँ उठ रहीं—
मुक्तागण हैं लिपटे कोमल कम्बु में ।
चञ्चल चितवन चमकीली है कर रही
सृष्टि मात्र को, मानो पूरी स्वच्छता
चीनांशुक बनकर लिपटी है अङ्ग में ।
अस्तव्यस्त है वह भी ढँकले कौन-सा
अङ्ग, न जिसमें कोई दृष्टि लगे उसे !
कोमल फूलों के रस से सींचे हुए
पंख तितलियों के करते हैं व्यजन-से ।

स्मृति*

कितनी निर्जन रजनी में
तारों के दीप जलाये,
स्वर्गङ्गा की धारा में
मिलने की भेंट चढ़ाये।

शशि-मुख पर घूँघट डाले
अञ्चल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में
कौतूहल-से तुम आये!

× × ×

मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को;
प्रतिभा-डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को।

घन में सुन्दर बिजली-सी
बिजली में चपल चमक-सी,
आँखों में काली पुतली,
पुतली में श्याम-झलक-सी

* कविवर 'प्रसाद' के आँसू से ये स्फुट लाइनें ली गई हैं।

प्रतिमा में सजीवता-सी,
बस गई सुछवि आँखों में,
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों में

× × ×

तुम रूप-रूप थे केवल
या हृदय रहा भी तुमको,
जड़ता की सब माया थी
चैतन्य समझ कर हमको।

× × ×

विष-प्याली जो मैं पी लूँ
वह मदिरा हो जीवन में।
सौन्दर्य-पलक-प्याले का
क्यों प्रेम बना है मन में।

छलना थी फिर भी मेरा
उसमें विश्वास बना था,
उस माया की छाया में
कुछ सच्चा स्वयं बना था॥

× × ×

कामना-सिन्धु लहराता
छवि-पूरनिमा थी छाई,
रत्नाकर बनी चमकती
मेरे शशि की परछाईं।

× ×

लहरों में प्यास भरी थी
थे भँवर-पात्र भी ख़ाली,
मानस का सब रस पीकर
लुढ़का दी तुमने प्याली।

× × ×

सोएगी कभी न वैसी
फिर मिलन-कुञ्ज में मेरे,
चाँदनी शिथिल अलसाई
सम्भोग सुखों से तेरे।

× × ×

सुख-आहत-शान्त-उमङ्गें
बेगार साँस ढोने में,
यह हृदय समाधि बना है
रोती करुणा कोने में।

× × ×

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना
भींगी पलकों का लगना—

× × ×

इस विकल वेदना को ले
किसने सुख को ललकारा
वह एक अबोध अकिञ्चन
बेसुध चैतन्य हमारा !

× × ×

उस पार ! कहाँ ? फिर जाऊँ
तम के मलीन अञ्चल में,
जीवन का लोभ न है वह
वेदना छद्म के छल में।

× × ×

वेदना विकल फिर आई,—
मेरी चौदहों भुवन में,
सुख कहीं न दिया दिखाई
विश्राम कहाँ जीवन में ?

उच्छ्वास और आँसू में
विश्राम थका सोता है,
रोई आँखों में निद्रा—
बनकर, सपना सोता है।

रामनरेश त्रिपाठी

जन्म—संवत १९४६ जन्मभूमि—कोइरीपुर (जौनपुर)

हिन्दी-मन्दिर
प्रयाग

वह अपने साथियों के साथ खेलता है। खेलते-खेलते उसने खिलाड़ी की अभिनय-शाला का कोना-कोना देख लिया।

उसने वहाँ देखा—अधिकांश खिलौने टूटे-फूटे पड़े हैं—किसी का दिल टूट गया है, किसी का जिगर फट गया है और किसी का मस्तक भग्न हो गया है। किसी का पेट जल रहा है, किसी की आँखें उलट गई हैं और किसी की सारी देह गली जा रही है।

उसने थोड़े-से हँसते हुए खिलौनों को भी देखा,- नया शैशव, नया यौवन! और, नव-मन—नव-धन का उन्माद!! नई उमंग और मद-भरी मस्ती के खेल! नाच-गान और अन्त में पैशाचिक अट्टहास!!

एक रोता है और एक हँसता है, खिलाड़ी के अजब खेल हैं।

वह चकित नेत्रों से खिलाड़ी को ढूँढ़ने लगा। उसने देखा,—वह खिलाड़ी तो उन टूटे-फूटे खिलौनों से ही हिलमिल कर बातें कर रहा है। उनका जीर्णोद्धार करता है, उन्हें नये ढंग से सजाता है और फिर नवजीवन देता है। वह दो-टूक कलेजों को छाती से लगा लेता है और जब रात होती है, उन्हीं से लिपट कर सो रहता है।

उस खिलौने ने जब से यह दृश्य देखा है वह भी अपने टूटे-दिल साथियों के साथ ही खेला करता है, क्योंकि वहाँ उसे नित्य खिलाड़ी के दर्शन होते हैं।

अन्वेषण

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुञ्ज और वन में ।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में ॥

तू 'आह' बन किसी की मुझको पुकारता था ।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन में ॥

मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू ।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में ॥

बन कर किसी के आँसू मेरे लिये बहा तू ।
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में ॥

दुख में रुला-रुला कर तू ने मुझे चिताया ।
मैं मस्त हो रहा था तब, हाय, अंजुमन में ॥

बाजे बजा-बजाकर मैं था तुझे रिझाता ।
तब तू लगा हुआ था पतितों के संगठन में ॥

मैं था विरक्त तुझसे जग की अनित्यता पर ।
उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में ॥

तू बीच में खड़ा था बेबस गिरे हुओं के ॥
मैं स्वर्ग देखता था, झुकता कहाँ चरन में ॥

तू ने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं।
तू कर्म में मगन था, मैं व्यस्त था कथन में॥
हरिचन्द्र और ध्रुव ने कुछ और ही बताया।
मैं तो समझ रहा था तेरा प्रताप धन में॥
मैं सोचता तुझे था रावण की लालसा में।
पर था दधीच के तू परमार्थ-रूप तन में॥
तेरा पता सिकन्दर को मैं समझ रहा था—।
पर तू बसा हुआ था फ़रहाद-कोहकन में॥
'क्रीकस' की 'हाय' में था करता विनोद तू ही।
तू ही विहँस रहा था महमूद के रुदन में॥
प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना।
तू ही मचल रहा था मंसूर की रटन में॥
कैसे तुझे मिलूँगा जब भेद इस क़दर है।
हैरान होके भगवन् आया हूँ मैं सरन में॥
तू रूप है किरन में, सौंदर्य है सुमन में।
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में॥
तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुसलिमों में।
विश्वास क्रिश्चियन में, तू सत्य है सुजन में॥
हे दीन-बन्धु! ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू।
देखूँ तुझे दृगों में, मन में तथा वचन में॥

कठिनाइयों दुखों का इतिहास ही सुयश है।
मुझको समर्थ कर तू बस, कष्ट के सहन में॥
दुख में न हार मानूँ, सुख में तुझे न भूलूँ।
ऐसा प्रभाव भर दे मेरे अधीर मन में॥

तेरी छवि

हे मेरे प्रभु ! व्याप्त हो रही है तेरी छवि त्रिभुवन में;
तेरी ही छवि का विकास है कवि की वानी में, मन में।
बालक के कोमल अधरों पर मधुर हास्य की छाया में,
माता के निःस्वार्थ नेह में, प्रेममयी की माया में,
पतिव्रता नारी के बल में, वृद्धों के लोलुप मन में,
होनहार युवकों के निर्मल ब्रह्मचर्यमय यौवन में,
तृण की लघुता में, पर्वत की गर्व-भरी गौरवता में,
तेरी ही छवि का विकास है रजनी की नीरवता में,
ऊषा के चञ्चल समीर में, खेतों में, खलियानों में,
गाते हुए गीत सुख-दुख के सरल-स्वभाव किसानों में,
श्रमी किन्तु निर्धन मजूर की अति छोटी अभिलाषा में,
पति की बाट जोहती बैठी गरीबिनी की आशा में,
भूख-प्यास से दलित दीन की मर्म-भेदनी आहों में,
दुखियों के निराश आँसू में, प्रेमी जन की राहों में,
मुग्ध मोर के सरस नृत्य में, कोकिल के पंचमस्वर में,
वन-पुष्पों के स्वाभिमान में, कलियों के सुन्दर घर में,
निर्जनता की व्याकुलता में, सन्ध्या के संकीर्तन में,
तेरी ही छवि का विकास है संतत पर-हित-चिंतन में।

खोल चन्द्र की खिड़की जब तू स्वर्ग-लोक से हँसता है
पृथ्वी में नवीन जीवन का नया विकास विलसता है।
कल-कल करती हुई, कौमुदी घुल कर, बहती गंगा है;
यह स्वर्गीय दूध है, या जल हीरे के रँग रंगा है?
जी में आता है, किरनों में घुल कर केवल पल-भर में
बरस पड़ूँ मैं पृथ्वी तल पर—विस्तृत शोभा-सागर में॥

माखनलाल चतुर्वेदी

"भारतीय-आत्मा"

सम्पादक-"कर्मवीर"

खण्डवा

वह एक रव है,—जो धीरे धीरे भूमण्डल के एक छोर से उठकर, परमाणुओं के अन्तर्जगत को छूता हुआ निःसीम गगन में फैल जाता है।

वह सृष्टिमात्र के कानों में प्रवेश कर उनकी अन्तर्ध्वनि को समझने की चेष्टा करता है और समझ कर अपनी ही प्रतिध्वनि में रहस्यपूर्ण सर्वव्यापी विचार सिद्धान्त-रूप में त्रिभुवन के सामने उपस्थित करता है।

× × ×

वह स्वयं तो एक रव है पर अपने अनेक स्वरों को मिलाकर और उनसे एक अपूर्व रागिनी की सृष्टि कर, "वसुधैवकुटुम्बकम्" के महान रूप में हमारे सामने विराजमान है।

नव-स्वागत

तुम बढ़ते हो चले मृदुलतर जीवन की घड़ियाँ भूले,
काठ छेदने लगे सहस दल की नव-पंखड़ियाँ भूले,
मन्द-पवन संदेश दे रहा, हृदय-कली पथ हेर रही,
उड़ो, मधुप ! नन्दन की दिशि में ज्वालायें घर घेर रही,
तरुण-तपस्वी आ तेरा
कुटिया में नव-स्वागत होगा।
दीपो ! तेरे चरणों पर फिर
मेरा मस्तक नत होगा॥

पुष्प की अभिलाषा

चाह नहीं, मैं सुर-बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध, प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि ! डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के शिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ,
मुझे तोड़ लेना बनमाली !
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक ॥

सौदा

चाँदी-सोने की आशा पर, अन्तस्तल का सौदा,
हाथ-पाँव जकड़े जाने को, आमिष-पूर्ण-मसौदा,
ह कड़ों पर जीवन की श्वासें,—कितनी सुन्दर दर है,
हूँ उन्मत्त तलाश रहा हूँ,—"कहाँ वधिक का घर है ?"

दमयन्ती के "एक चीर" को—
माँग हुई बाज़ी पर ।
देश-निकाला स्वर्ग बनेगा,
तेरी नाराज़ी पर ! !

खीझमयी मनुहार

किन घड़ियों में तुझको झाँका, तुझे झाँकना पाप हुआ;
आग लगे वरदान-निगोड़ा मुझ पर आकर शाप हुआ !
जाँच हुई, नभ से भूमण्डल तक का व्यापक नाप हुआ;
अगणित वार समा कर भी छोटा हूँ—यह सन्ताप हुआ।
अरे अशेष ! 'शेष' की गोदी
तेरा बने बिछौना-सा ।
आ, मेरे आराध्य ! खिलालूँ
मैं भी तुझे खिलौना-सा ॥

उन्मूलित वृक्ष

भला किया, जो इस उपवन के सारे पुष्प तोड़ डाले,
भला किया, मीठे-फलवाले ये तरुवर मरोड़ डाले,
भला किया, सींचो-पनपाओ, लगा चुके हो जो कलमें,
भला किया, दुनियाँ पलटा दी प्रबल हमलों के बल में।
लो, हम तो चल दिये,
नये पौधो—प्यारो ! आराम करो।
दो दिन की दुनियाँ में आये,
हिलो-मिलो कुछ काम करो !!

पथरीले ऊँचे टीले हैं, रोज़ नहीं सींचे जाते,
वे नागर न यहाँ आते हैं, जो थे बाग़ीचे आते,
झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़ कर, वनचर भी खा जाते हैं,
शाखा-मृग कन्धों पर चढ़ कर भीषण-शोर मचाते हैं।
दीन-बन्धु की कृपा
बन्धु, जीवित हैं, हाँ, हरियाले हैं,
भूले-भटके कभी गुज़रना
हम वे ही फलवाले हैं॥

———

मुकुटधर पाण्डेय

जन्म—संवत् १९५२ जन्म-भूमि—बालपुर

पो० चन्द्रपुर

(जि० बिलासपुर)

वह भग्न-हृदयों का राज-मुकुट है।

उसके जीवन का मूलधन है—आँसू।

आँखों के पानी को वह त्रिवेणी के सुनील जल से कहीं अधिक पवित्र समझता है। उसका दृढ़ विश्वास है—आँखों की उमड़ी हुई सरिता में जो प्राणी स्नान कर लेता है, वह निश्चय अपने पापों और कष्टों से मुक्ति पा जाता है।

उसका मन दिन-रात नर कंकालों की दुनिया में घूमा करता है; सुदामा की कुटिया में खेला करता है और जब कभी उसके कानों में कहीं से कोई 'आह!' आकर समा जाती है, तब उसकी आखें छलछला पड़ती हैं। वह अवरुद्ध कंठ से गाता है—

मेरे जीवन की लघु-तरणी!
आँखों के पानी में तर जा।

बस, यही उसका अमर-संगीत है।

स्वागत

स्वागत, हे सुन्दर सुकुमार !
आओ, हृदय-मार्ग से मेरे प्रियतम-प्राणाधार !
आओ, हे घनश्याम उदार !

आओ, प्रेम-वारि बरसाओ
विटप बेलियों में लहराओ
आओ, झरनों से मिल गाओ
हे कवि, कुशल-अपार !

आओ, साथ उषा के आओ
किरणों के मिस कर फैलाओ
विकसित अमल-कमल बन जाओ
पहनो मुक्ताहार ॥

सरस वसन्तानिल सरसाओ
सावन-घन बन कर नभ छाओ
शरदाकाश-विलास दिखाओ
चारु-चन्द्रिकागार !

आओ, भाव-सरित बन धाओ
हृदयस्थित सब कलुष बहाओ
तन-मन-नयन मध्य भर जाओ
मोहन ! छवि-आधार !
स्वागत, हे सुन्दर सुकुमार !

लज्जा-त्रस्त

होने में तव सम्मुख आज
नाथ ! सताती मुझको लाज ।

प्राङ्गण में है हुई जनों की भीड़ अपार
भरा शङ्ख-रव से है नभ का हृदयागार
सजता है पूजा का साज
नाथ, सताती मुझको लाज ।।

मुझे सामने पा न करो जो कुछ अनुमान
समझो मुझको कुटिल तथा दम्भी अज्ञान
इसमें कुछ भी नहीं अकाज
नाथ, सताती मुझको लाज ।

मन्दिर-पथ में मुझे उठा जो कोई हाथ
पूछ बैठता—"कहाँ !"—विनत हो जाता माथ;
पुनः यहाँ तो भरा समाज,
नाथ, सताती मुझको लाज ॥

जब सन्ध्या को हट जायेगी भीड़ महान
तब आकर मैं तुम्हें सुनाऊँगा निज गान

नहीं तीसरे का कुछ काम
नाथ, सताती मुझको लाज।

शून्य-छत्र के अथवा कोने ही में एक,
करूँ तुम्हारा बैठ यहीं नीरव-अभिषेक।
सुनो न तुम भी वह आवाज़
नाथ, सताती मुझको लाज॥

क्षमा-दान

पतित जन के पतित मुख से कढ़े जो प्रार्थना-बानी—
हृदय में आह हो, तन में तपन हो, आँख में पानी ॥
बहा परिताप के आँसू, न धोता मैल जो उर का ।
नहा कर सुरसरी में भी, न होता पूत वह प्रानी ॥
हुआ है शान्त यह नभ में, बरस करके जलद जी-भर ।
रुको मत आँसुओ मेरे !, बनो मत आज अभिमानी ॥
सुमन ने फाड़ कर अपना हृदय दिखला दिया नभ को ।
छिपाता पाप को प्रभु से, वृथा-रे जीव-अज्ञानी ! ॥
बना उसके चरण-रज को,
विनत नित भाल का चन्दन ।
क्षमा का दान देगा ही,
कभी तो वह महादानी ॥

———

उद्गार

मेरे जीवन की लघु-तरणी !
आँखों के पानी में तर जा !!

मेरे उर का छिपा ख़ज़ाना,
अहंकार का भाव पुराना,
बना आज तू मुझे दिवाना,
तप्त-स्वेद-बूँदों में ढर जा !

मेरे नयनों की चिर आशा,
प्रेम-पूर्ण-सौन्दर्य-पिपासा,
मत कर नाहक और तमाशा;
आ, मेरी आहों में भर जा !

मृदुल-मनोरथ-तरु में फूला,
फूल रङ्ग में अपने भूला,
झूल चुका बस. जो कुछ झूला,
अब अपनी डाली से झर जा !

चढ़ी हृदय में चिता कराला,
ऊपर नभ तक उठती ज्वाला,
मरण-दुःख ! ले मुक्ता-माला,
गिर कर अब उसमें तू मर जा !

ऐ मेरे प्राणों के प्यारे !
इन अधीर आँखों के तारे !
बहुत हुआ मत अधिक सता रे !
बातें कुछ भी तो अब कर जा !

मानस-भवन पड़ा है सूना,
तमोधाम का बना नमूना,
कर उसमें प्रकाश अब दूना,
मेरी उग्र-वेदना हर जा !

मोहित तुझको करने वाली,
नहीं आज वह मुख की लाली,
हृदय-यंत्र यह रक्खा खाली,
अब नूतन-सुर इसमें भर जा !

अधीर

यह स्निग्ध-सुखद-सुरभित-समीर
कर रहा आज मुझको अधीर !
किस नील-उदधि के कूलों से
अज्ञात-वन्य किन फूलों से;
इस नव-प्रभात में लाती है—
जाने यह क्या वार्त्ता-गभीर !!
प्राची में अरुणोदय अनूप,
है दिखा रहा निज दिव्य-रूप;
लाली यह किसके अधरों की ?–
लख जिसे मलिन नक्षत्र-हीर !
विकसित सर में किञ्जल्क-जाल,
शोभित उन पर नीहार-माल;
किस सदय-बन्धु की आँखों से–
है टपक पड़ा यह प्रेम-नीर !
प्रस्फुटित मल्लिका पुञ्ज-पुञ्ज,
कमनीय-माधवी कुञ्ज-कुञ्ज,
पीकर कैसी मदिरा प्रमत्त—
फिरती है निर्भय भ्रमर-भीर !

यह प्रेमोत्फुल्ल पिकी-प्रवीन
कर भाव-सिन्धु में आत्म-लीन;
मञ्जरित आम्र-तरु में छिपकर-
गाती है किसकी मधुर-गीर !
है धरा वसन्तोत्सव-निमग्न,
आनन्द-निरत कल-गान-लग्न,
रह-रह मेरे ही अन्तर में
उठती यह कैसी आज पीर ?
यह स्निग्ध-सुखद-सुरभित-समीर,
कर रही आज मुझको अधीर !

वसन्त-समीर

फिरती आज वसन्त-समीर;
किसके दर्शन-हित यह ऐसी उत्सुक-हृदय अधीर !
कुसुमित किंशुक के उपवन में,
मुकुलित मञ्जु आम्र-कानन में,
जानें किसको ढूँढ़ रही है, व्याकुल तटिनी-तीर ॥
तरल-चपल ले लहर उदारा,
नाच रही कलमय जलधारा;
गूँज रही चहुँ ओर मनोहर, कोकिल की मधुगीर ॥
किसके भावों में निमग्न यह,
कहाँ जा रही प्रेम-लग्न यह,
प्राची में किसके स्वागत हित, बिछा लाल यह चीर ?

कुररी के प्रति *

बता मुझे ऐ विहग-विदेशी ! अपने जी की बात।
पिछड़ा था तू कहाँ, आ रहा जो कर इतनी रात ?
निद्रा में जा पड़े कभी के ग्राम्य मनुज स्वच्छन्द।
अन्य विहग भी निज खोतों में सोते हैं सानन्द ॥
इस नीरव-घटिका में उड़ता है तू चिन्तित-गात।
पिछड़ा था तू कहाँ, हुई क्यों तुझको इतनी रात ?

देख किसी माया-प्रान्तर का चित्रित चारु-दुकूल,
क्या तेरा मन मोह-जाल में गया कहीं था भूल ?
क्या उसकी सौन्दर्य-सुरा से गया हृदय तव ऊब ?
या आशा की मरीचिका से छला गया तू खूब ?
या होकर दिग्भ्रान्त लिया था तूने पथ-प्रतिकूल ?
किसी प्रलोभन में पड़ अथवा गया कहीं था भूल ?

---

* कुररी पक्षी विशेष हैं, जो जाड़े के दिनों में दिखाई पड़ते हैं। दिन-भर सुदूर खेतों में चुगने के पश्चात, बड़ी रात गये, महानदी के गर्भ में विश्राम करने के लिये लौटती हुई कुररियों को सम्बोधित कर यह पद्य लिखा गया है।

अन्तरिक्ष में करता है तू क्यों अनवरत विलाप ?
ऐसी दारुण-व्यथा तुझे क्या, है किसका परिताप ?
किसी गुप्त-दुष्कृति की स्मृति क्या उठी हृदय में जाग ?
जला रही है तुझको अथवा प्रिय-वियोग की आग ?
शून्य-गगन में कौन सुनेगा तेरा विपुल-विलाप ?
बता, कौन-सी व्यथा तुझे है, है किसका परिताप ?

यह ज्योत्स्ना रजनी हर सकती क्या तेरा न विषाद ?
या तुझको निज जन्म-भूमि की सता रही है याद ?
विमल व्योम में टँगे मनोहर मणियों के ये दीप;
इन्द्रजाल तू उन्हें समझ कर जाता है न समीप ?
यह कैसा भयमय विभ्रम है, कैसा यह उन्माद ?
नहीं ठहरता तू; आई क्या तुझे गेह की याद ?

कितनी दूर ? कहाँ ? किस दिशि में तेरा नित्य-निवास ?
विहग-विदेशी, आने का क्यों किया यहाँ आयास ?
वहाँ कौन तारा-गन करता है आलोक-प्रदान ?
गाती है तटिनी उस भू की बता, कौन-सा गान ?
कैसी स्निग्ध-समीर चल रही; कैसी वहाँ सुवास ?
किया यहाँ आने का तूने कैसे यह आयास ?

सियारामशरण गुप्त

जन्म-संवत् १९५२ जन्म-भूमि-चिरगाँव

चिरगाँव (झाँसी)

उसकी आत्मा एक वीणा है। वह स्वयं न तो सरल है और न कटु! न तो शान्त है और न वीभत्स! न तो कोमल—करुण है और न कठोर! न तो सुरीली है और न बेतान!

तो वह है क्या?

आप उसे बजाइये,—आपकी लय जिस रागिनी, जिस कल्पना, जिस भावना,—जिस दुनियाँ का जो अन्तर्क्षेत्र तैयार करेगी—वही,—वह है। आप जो हैं, वह आपकी ही लय है, आपकी लय जो है, वही वह है!—

"जिस तरह चाहो बजाओ इस वीणा को,
यन्त्र है;
सुनो तुम्हीं अपनी सुमधुर तान;
बिगड़ेगी वीणा सुधारोगे बाध्य हो!"

घट

कुटिल कंकड़ों की कर्कश रज
मल-मल कर सारे तन में,
किस निर्मम निर्दय ने मुझको
बाँधा है इस बन्धन में ?

फाँसी-सी है पड़ी गले में
नीचे गिरता जाता हूँ;
बार-बार इस अन्ध-कूप में
इधर-उधर टकराता हूँ।

ऊपर-नीचे तम ही तम है
बन्धन है अवलम्ब यहाँ !
यह भी नहीं समझ में आता
गिर कर मैं जा रहा कहाँ ! !

काँप रहा हूँ; भय के मारे
हुआ जा रहा हूँ म्रियमाण;
ऐसे दुखमय जीवन से हा !
किस प्रकार पाऊँ मैं त्राण ?

सभी तरह हूँ विवश, करूँ क्या
नहीं दीखता एक उपाय;
यह क्या ?—यह तो अगम नीर है,
डूबा ! अब डूबा मैं हाय ! !

भगवन् ! हाय ! बचा लो अब तो,
तुम्हें पुकारूँ मैं जब तक,
हुआ तुरन्त निमग्न नीर में
आर्तनाद करके तब तक।

अरे, कहाँ वह गई रिक्तता,
भय का भी अब पता नहीं;
गौरववान हुआ हूँ सहसा;
बना रहूँ तो क्यों न यहीं ?

पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा
उज्वल तर जीवन लेकर;
तुमसे उऋण नहीं हो सकता
यह नवजीवन भी देकर।

वीणा

हे वीणे ! बता, कहाँ पाया
इस दारुखण्ड में मनभाया
यह मंजु-मधुर-रव चित्तचोर ?
मन पागल-सा होकर तत्क्षण
सुन कर तेरा यह मृदु-निक्कण
जाता है किसी अचिन्त्य-ओर
है कहीं न जिसका ओर-छोर ।

क्रम-क्रम से द्रुत, द्रुततर द्रुततम
कर-कर कल-नृत्य-कलित-विभ्रम,
तेरे ये लौह-कठोर-तार,
किस गुण-बल से, किस कौशल से,
लेकर तेरे अन्तस्तल से
वितरित करते हैं वार-वार
तेरा आह्लाद विषाद, प्यार !

जब किसी दूर-वासी वन में
सुरभित-समीर के सन-सन में,
तू थी नवकुसुमित लताकार,

यह कोमलता शुचिता तब की,
—कुछ ज्ञात नहीं जानें कब की—
तू रही छिपाये किस प्रकार,
ज्यों पूर्व-सुकृत-सर्वस्व-सार !

कोई मुग्धा तापस-बाला,
मानों उत्फुल्ल सुमन-माला,
निज कर कर्णों से कच सँभाल—
जल देती थी तेरे तल में,
प्रतिदिन प्रभात के कल-कल में ?
क्या उसका वह माधुर्य-जाल,
झङ्कार रूप में है रसाल ?

संकुचित, विलज्जित से नव-नव,
तेरी उस शाखा के पल्लव,
पिक-कूजन सुन कर मोदमान,
हो लोट-पोट उस सुस्वर पर
करते थे मधुर-मधुर-मर्मर ।
क्या यह पंचम का हर्ष-गान,
था किया तभी आकण्ठ-पान ?

मलयानिल को आगे करके,
पीकर परागमधु जी-भर के,
जब-जब वसन्त आया नवीन,
उसका विलास उच्छ्वास-भरित
चुपके-चुपके करके सञ्चित
कर रक्खा था क्या आत्मलीन,
है वही गूँज यह बन्ध-होन ?

जानें क्यों आता है मन में—
देखा हो तुझे कहीं वन में,
मैंने प्रवास में मार्ग भूल।
अब किन्तु किसी को ज्ञात नहीं,—
हम तुम दोनों मिल चुके कहीं;
तेरी डाली ने झूल-झूल,
डाला था मुझ पर एक फूल !

क्या वही मित्रता-मयी सुकृति
—जो हुई विगत जीवन की स्मृति—
धर कर यह नूतन रम्य-रूप

बरबस मुझको है खींच रही;
यह हृदय सुधा से सींच रही !
स्वर-सुमनों के-से स्तूप-स्तूप
वह बरसाती जाती अनूप ।

हे साधन-सिद्धि ललित वीणे !
तू है कल-कण्ठ-कलित वीणे !!
मेरे जीवन में कर निवास ।
तेरे निक्कण का-सा सुन्दर
आनन्द-भरित जीवन धर कर
क्षण-भर में ही करके विकास
फैला जाऊँ आनन्द-हास ।

स्वर्गीय

लक्ष्मणसिंह क्षत्रिय 'मयंक'

(वैकुण्ठ में)

उस द्वितीया के दिन काव्य-गगन में उसका हँसता हुआ मुखड़ा साफ़-साफ़ दिखलाई पड़ा था। आशा-कुमुदिनी खिल उठी थी,—उस से निर्मित एक सुन्दर-सुगन्धित हार उन्नतिदेवी की ग्रीवा तक पहुँचा ही था कि एकाएक आँधी आ गई—हार छूट कर गिर पड़ा। फिर तूफ़ान आया, ठीक उसी कुसमय में राहु ने हमारे मयंक को ग्रस लिया।

× × ×

उस दिन पूर्णिमा थी। एकाएक हमारा ध्यान आकाश में हँसते हुए उन्मुक्त विहारी पूर्णचन्द्र की ओर गया। 'स्मृति' ने साक्षी दी कि देखो, यही तो तुम्हारा वह मयंक है।

अन्त ! *

हा श्रान्त-अन्त ! उद्भ्रान्त-अन्त ! !
हा ! हा ! कल-कोमल-कान्त-अन्त ! ! !

गङ्गा-माँ के वक्षस्थल पर,
उस दिन निर्म्मल शीतल जल पर,
देखी थी तव स्वर्गीय छटा;
फिर सघन वनों की ओर हटा।

गूँजा था कल-झंकार नया,
दीखा था सब संसार नया।
पुलकों-सी उमड़ पड़ी आँखें
भींगी मन-मधुकर की पाँखें ॥

---

* [यह कविता, 'मयंक' ने अपनी स्त्री के देहान्त पर लिखी थी। सामने, माँ-गंगा 'कल-कल'—करती हुई बह रही हैं, उनके पुनीत-तट पर स्त्री की चिता धधक रही है; बस, कवि के क्षुब्ध हृदय में आकुल-संगीत बज उठता है, वही यह कविता है।

हा, आज तो युवा 'मयंक' का भी अन्त हो गया है, हम अपनी ओर से उसके वियोग में ऊपर की यही लाइनें क्यों न गुनगुनावें— !]

मानस को उथल-पुथल करके,
गङ्गा-जल को उज्ज्वल करके,
तू किधर गया ?—उड्डीन हुआ !
हा ! किस अनन्त में लीन हुआ ! !

मानस-मन्दिर दीपक-ज्वलन्त !
तन-मन-यौवन जीवन-जपन्त ! !
खोजूँ मैं तुझको कहाँ 'अन्त',
फिर भी—क्या फिर भी ? हाय, हन्त !

निश्चय तुझसे पहले अनन्त—
सुख-भोग तिरोहित हुए अन्त ।

बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन'

('प्रभा'-सम्पादक)

अवस्था—२८वर्ष जन्म-भूमि—उज्जैन

प्रताप प्रेस,

कानपुर

राख में छिपी हुई चिनगारियों की तरह उसने अपने हृदय के ताप को अन्दर ही अन्दर दबा रखा है। कभी-कभी जब आँधी चलती है, राख उड़ने लगती है, तब वे उष्ण चिनगारियाँ प्रकट होकर अपना वास्तविक रूप दिखला देती हैं।

अग्नि के स्पर्श में जितनी ज्वाला है, उतनी उसके दर्शन में नहीं—इसी तरह उसके उद्गारों के अनुभव में जितनी मार्मिकता है, उतनी उसके सुन लेने में नहीं।

उसके हृदय के किसी एक कोने में घाव है, वह उसे नित्य खुजलाया करता है। कभी-कभी उस पर नमक भी छिड़क देता है, पर, उस पर न तो पट्टी बाँधता है और न किसी को बाँधने ही देता है। अगर बाँधिये तो, झिझकता है और अन्त में रोने लगता है।

उसके घाव में दर्द है पर, आह नहीं है। हाँ, उसकी आह में एक लम्बी चीख है पर, वह सुनाई नहीं पड़ती। जब वह दर्द से व्याकुल हो जाता है तब अन्दर ही अन्दर छट-पटाने लगता है और उसी समय वह अपनी अन्तर्वीणा को उठाता है, उसके सातों तार एक ही बार बजा कर चिल्ला उठता है—हे हृदय-सम्राट्! मेरा यह घाव सदा नवीन बनाये रह।

विप्लव-गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आए—एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का—धुआँधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाएँ, भस्मसात् भूधर हो जाएँ,
पाप, पुण्य, सद सद्भावों की,—धूल उड़ उठे दाएँ-बाएँ,
नभ का वक्षस्थल फट जाए, तारे टूक-टूक हो जाएँ,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाए।

माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाए,
आँखों का पानी सूखे,—वे शोणित की घूँटें हो जाएँ,
एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाए,
अन्धे मूढ़-विचारों की वह—अचल-शिला विचलित हो जाए,
और दूसरी ओर कँपा देने वाला गर्जन उठ धाए,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराए,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाए!

नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूक-टूक हो जाएँ,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ,
शान्ति-दण्ड टूटे,—उस महारुद्र का सिंहासन थर्राए,
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्राङ्गण में घहराए,
नाश ! नाश ! ! हा, महानाश ! ! !—की प्रलयंकरी आँख खुल जाए,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाए ! !

* * * *

"सावधान ! मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजराबें, युगलांगुलियाँ ये मेरी ऐंठी हैं,
कण्ठ रुका जाता है, महानाश का गीत रुद्ध होता है,
आग लगेगी क्षण में, हृत्तल में अब क्षुब्ध-युद्ध होता है,
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त हैं—इस ज्वलन्त गायन के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्षुब्ध-तान—निकली है मेरे अन्तर तर से !

"कण-कण में है व्याप्त वही स्वर रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है—कालकूट फणि की चिन्तामणि,
जीवन-ज्योति लुप्त है—अहा ! सुप्त हैं संरक्षण की घड़ियाँ,
लटक रही हैं प्रतिपल में—इस नाशक संभक्षण की लड़ियाँ ॥
चकनाचूर करो जग को—गूँजे ब्रह्माण्ड नाश के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध-तान—निकली है मेरे अन्तर तर से ! !

"दिल को मसल-मसल मेंहदी—रचवा आया हूँ मैं यह देखो—
एक-एक अंगुलि-परिचालन में नाशक-तांडव को पेखो।
विश्व मूर्ति ! हट जाओ,—यह वीभत्स प्रहार सहे न सहेगा,
टुकड़े-टुकड़े हो जाओगी, नाश-मात्र अवशेष रहेगा।
आज देख आया हूँ—जीवन के सब राज़ समझ आया हूँ,
भ्रू-विलास में महानाश के, पोषक-सूत्र परख आया हूँ;
जीवन-गीत भुला दो—कण्ठ मिला दो—मृत्यु-गीत के स्वर से,
रुद्र-गीत की क्रुद्ध-तान—निकली है मेरे अन्तर तर से !!!

*　　*　　*

प्रज्वलित वह्नि

(राग, विहाग—तिताला)

बह चली, आह, कैसी बयार !
खोला अतीत का जटिल द्वार ।
जीवन-वन की वृन्तावलियाँ,
विस्मृत पथ की सँकरी गलियाँ,
अति व्यथित हास्य की नव कलियाँ,
तिमिर-ग्रस्ता पर्णावलियाँ,
कर रहीं अनोखा आज प्यार;—
बह चली, आह, कैसी बयार !
बीते दिवसों का अन्धकार
घेरे था जिसका क्षुद्र द्वार,
उस हृदय-कूप का नीर खार
कम्पित होता है बार-बार;
लेवे कोई इसको उबार—
बह चली, आह, कैसी बयार !
मन-मन्दिर की उस सीढ़ी पर
कल्पना, भावनायें चढ़ कर,

देती थीं विमल अर्घ्य सत्वर
जिस मूक-भाव के पत्थर पर,
उससे निकलीं ये बूँद चार
वह चली, आह, कैसी बयार !
सिंहासन पर थी जमी धूल,
पर, कहीं न दीखा वह दुकूल,
जो बाँधे लाता चार फूल,
पोंछता सुआसन फूल-फूल ।
हाँ, अब आया ढालन-विचार—
वह चली, आह, कैसी बयार !
रवि-किरणों की सुन्दर जाली,
ख-ग्रास-ग्रहण-आभा काली,
दोनों उलझी थीं मतवाली;
जीवन-पथ प्रकाश से ख़ाली
था, फिर आईं, किरणें अपार—
वह चली, आह, कैसी बयार !
सुन्दरता के झकझोरों में,
वासन्ती के कल भौंरों में,
श्रावण के प्यार हिंडोरों में,
दुख की रोटी के कौरों में,

मिल गया आज फिर से दुलार;
बह चली, आह, कैसी बयार !
पागल की बहकी बातें हैं;
योगी को ये श्रम-रातें हैं।
तुम रोते हो, हम गाते हैं;
टूटे स्वर में सुख पाते हैं।
दुख ही में पाया सुख-प्रसार—
बह चली, आह, कैसी बयार !
ये पंख उड़ाते हैं मन को
मैं क्या हूँ ? क्या जानूँ तन को ?
उन्मत्त शराबी इस क्षन को
पा गया, अहो, जीवन-धन को;
फिर-फिर स्मृति की अति ही अपार—
बह चली, आह, कैसी बयार !
बैठी है पत्ती-पत्ती में,
पूजार्त्ति दीप की बत्ती में,
अर्पित तंडुल की रत्ती में,
वेदो-मसीह की 'मत्ती' में,
बैठी है मेरी मनुहार—
बह चली, आह, कैसी बयार !

मेरी-निकुंज की गलियों में,
आता वह घृत ले पलियों में,
भरता है दीवे अलियों में,
गणना है उसकी छलियों में,
स्मृति-दीपक बुझता बार-बार—
बह चली, आह, कैसी बयार !
कुछ देर जले यह दिया और,
गूँथूँ माला का एक छोर,
विस्मृति की आँधी, कर न शोर,
चंचलते, बहकाओ न मोर।
मेरे मन का, गाकर मलार—
बह चली, आह, कैसी बयार !
किसको आराधूँ ? चलूँ कहाँ ?
किसकी मुरली को सुनूँ कहाँ ?
किसका अधरामृत पियूँ कहाँ ?
किस अग्नि-लोक में जियूँ कहाँ ?
जिससे छूटें वन्धन-विचार—
बह चली, आह, कैसी बयार !
वेदने, सुनो मेरी वाणी,
झरखंड जलाओ कल्याणी !

तुम जिस प्रदेश की हो रानी,
कर दो वह भस्म, न दो पानी !
तब निकलें शोले तीन-चार—
वह चली, आह, कैसी बयार !
इस हृदय-यज्ञ का धूम्र-यान
लेकर आवेगा मूर्तिमान
मेरी आहों का अश्रु-दान
स्मृति-रत्नों से भूषित महान।
उस झाँकी पर होऊँ निसार;
वह चली, आह, कैसी बयार !
गत आनन्दों के अश्रु क्षीण !
आगत दुख के अनुभव प्रवीण !
अव्यक्त भावना-भरी बीन !
यों हाथ जोड़ कहता 'नवीन'—
प्रज्वलित वह्नि सुलगे अपार—
हृत्खंड करे फिर जल-विहार !
निकलें सोते उनसे अपार—
वह चले, अहो, ऐसी बयार !

———

सूखे आँसू

क्यों कलेजे की तड़प धीमी पड़ी—
आज दिल सुनसान-सा क्यों हो गया ?
आँख के अव्यक्त भावों की लड़ी—
तोड़ दी किसने ?—कहाँ धन खो गया ?
इस विषमता की सरलता सूख कर—
किस सरोवर में तिरोहित हो गई ?
इस विपिन की वह कुहुकिनी कूककर—
किस निनादित वेणु-वन में सो गई ?
सिसकने में ही मज़ा मिलता रहा,
कसक की उस वेदना की चाह से—
हम विपन्नों का कमल खिलता रहा !
दर्द को दिल से लगाया चाह से !!
हाय ! पर वह दर्द मेरा क्या हुआ ?
किस निठुर ने हाय ! पट्टी बाँध दी ?
लोल-लोचन-बिंदु, तुम अब हो कहाँ ?
सूखता है यह विटप,—
लो,
देख लो !

—

भिखारिणी

हे जीवन की गली-गली में
फिरने वाली भिखारिनी,
यहाँ-वहाँ जाकर न माँग तू
आशा-वन की विहारिनी !
वे चुम्बन के फूल, और ये—
तेरे कलुषित होठ यहाँ—
कैसे खिलें ? बता दे, हिय में—
लगी लगन की आग जहाँ ?
त्याग कहाँ ? वैराग्य कहाँ ?
हाँ, तेरा वह सौभाग्य कहाँ ?
राग यहाँ, अनुराग यहाँ,
है तेरा यह दुर्भाग्य यहाँ ।
होठ नहीं तो, हाथ सही,
यदि हाथ नहीं तो चरण सही,
चरण नहीं तो, हे निष्ठुर ! बस
नूपुर का आभरण सही,
कुछ न रही तो, उन आँखों से
आश्वासन की शरण सही,
प्राण-दान के मिस इस टूटे—
जीवन का संवरण सही ॥

सूर्यकान्त त्रिपाठी

"निराला"

जन्म—(लगभग) सन् १८९७ ई०

जन्म-भूमि—महिषादल
(मेदनीपुर, बङ्गाल)

गाँव—गढ़ाकोला
पो० मगरायर
ज़िला—उन्नाव

वह सृष्टि की परिधि पर उन्मुक्त वायु को तरह स्वच्छन्द विचरण करता है।

हाँ, वह निराला है,—लाखों-करोड़ों में निराला है।

स्वतंत्रता ही उसकी ज्ञेय जननी है और निरा-उन्मुक्त-रूप परब्रह्म ही उसका जनक। उसका हृदय अपने जनक के समान ही विस्तृत,— और निर्बन्ध है। विश्व के कृत्रिम नियम-उपनियम, और संकीर्ण हृदयों के क्षुद्र भाव-समूह उसकी गति को—उस गति को जो कि प्रभंजन के समान है,—रोक नहीं सकते।

उसकी अन्तर्वीणा का निर्माण सृष्टि के स्वच्छन्द उपकरणों से हुआ है। वह वीणा की ध्वनि को लक्ष कर, अपनी रबड़ की-सी संकुचित राग-रागिनियों को धीरे धीरे फैलाता हुआ गाता है और उसका स्वर समीरण के झोंकों के साथ त्रिभुवन के कोने-कोने में व्याप्त हो जाता है।

उसका संगीत-राज्य हास्य और रुदन से अभिषिक्त है।

जब वह रोता और तड़पता है—मानो, ज्वालामुखी फूट पड़ती है, उत्तप्त मार्तण्ड प्रखर हो उठता है—संसार के कोने कोने में आग लग जाती है।

जब वह हँसता है—मानो, अगाध समुद्र की उत्ताल तरंगें मतवाली होकर नाचने लगती हैं, हिमाच्छादित पर्वतों से प्रसन्नता की सहस्रों धारायें फूट पड़ती हैं और अदृश्य परमाणुओं में

भी अनोखी चमक आ जाती है। यही नहीं,—ऋतुओं में परिवर्तन हो जाता है—वसन्त और शिशिर आते हैं और संसार को उसकी उत्फुल्लता का सन्देश और इतिहास सुना जाते हैं।

और; व्योममण्डल में चन्द्र और नक्षत्र-पुंजों को सजा कर सुरललनायें भी उसे अर्घ्य देने के लिये हँसती हुई आगे बढ़ती हैं।

क्या गाऊँ ?

क्या गाऊँ ?—माँ ! क्या गाऊँ ?
गूँज रही हैं जहाँ राग-रागिनियाँ
गाती हैं किन्नरियाँ कितनी परियाँ,
कितनी पंचदशी कामिनियाँ,
वहाँ एक यह लेकर वीणा दीन,
तन्त्री—क्षीण,—नहीं जिसमें कोई झंकार नवीन,
रुद्ध-कण्ठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ ?
माँ !—क्या गाऊँ ?
छाया है मन्दिर में तेरे यह कितना अनुराग !
चढ़ते हैं चरणों पर कितने फूल,
मृदु-दल, सरस-पराग,
गन्ध-मोद-मद पीकर मन्द समीर
शिथिल चरण जब कभी बढ़ाती आती,
सजे हुए बजते उसके अधीर नूपुर-मंजीर,
कहाँ एक निर्गन्ध-कुसुम उपहार ! !
नहीं कहीं जिसके पराग-सञ्चार-सुरभि-परिवार ! !
कैसे भला चढ़ाऊँ ?
माँ ! क्या गाऊँ ?

—

तुम और मैं

तुम तुंग हिमालय शृंग, और मैं चंचल गति सुर सरिता।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास, और मैं कान्त-कामिनी-कविता ॥
तुम प्रेम और मैं शान्ति।
तुम सुरापान घन अन्धकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।
तुम दिनकर के खर-किरण-जाल, मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहचान ॥
तुम योग और मैं सिद्धि।
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि।

तुम मृदु मानस के भाव, और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नन्दन-वन-घन-विटप, और मैं सुख-शीतल-तल-शाखा ॥
तुम प्राण और मैं काया।
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म,
मैं मनोमोहिनी माया।
तुम प्रेममयी के कंठहार, मैं वेणी काल-नागिनी।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह रागिनी ॥

तुम पथ हो मैं हूँ रेणु।
तुम हो राधा के मनमोहन,
मैं उन अधरों की वेणु।

तुम पथिक दूर के श्रान्त, और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा॥
तुम नभ हो मैं नीलिमा।
तुम शरद-सुधाकर-कला-हास,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा।
तुम गन्ध-कुसुम कोमल पराग, मैं मृदुगति मलय समीर।
तुम स्वेच्छाचारी युक्त पुरुष, मैं प्रकृति-प्रेम-जंजीर॥
तुम शिव हो मैं हूँ शक्ति।
तुम रघुकुल-गौरव-रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति॥

तुम हो प्रियतम मधुमास, और मैं पिक, कल-कूजन तान।
तुम मदन पंचशर-हस्त, और मैं हूँ मुग्धा अनजान।
तुम अम्बर मैं दिग्वसना।
तुम चित्रकार घन-पटल श्याम,
मैं तड़ित्तूलिका-रचना॥

तुम रण ताण्डव-उन्माद नृत्य, मैं युवति-मधुर-नूपुर-ध्वनि ।
तुम नाद वेद ओङ्कार सार, मैं कवि-शृंगार-शिरोमणि ।
तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति ।
तुम कुंद-इन्दु-अरविन्द शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति ।

धारा

बहने दो,
रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है ?
गरज गरज कर क्या कहती है—कहने दो—
अपनी इच्छा से प्रबल वेग से बहने दो।
सुना, रोकने इसे कभी कुंजर आया था,
दशा हुई फिर क्या उसकी ?—
फल क्या पाया था ?
तिनका जैसा मारा मारा
फिरा तरङ्गों में बेचारा—
गर्व गँवाया—हारा;
अगर हठवश आओगे—
दुर्दशा करवाओगे—बह जाओगे।
देखते नहीं ?—वेग से हहराती है,—
नम्र प्रलय का-सा ताण्डव हो रहा—
चाल कैसी मतवाली—लहराती है।

प्रकृति को देख, मीचती आँखें,
त्रस्त खड़ी है—घरांती है।
आज हो गये ढीले सारे बन्धन,
मुक्त हो गये प्राण,
रुका है सारा करुणा क्रन्दन।
बहती कैसी पागल उसकी धारा!
हाथ जोड़ कर खड़ा देखता दीन
विश्व यह सारा;
बड़े दम्भ से खड़े हुए ये भूधर
समझे थे जिसे बालिका,
आज ढहाते शिला खण्ड को देख
काँपते थर थर—
शिलाखण्ड-नरमुण्डमालिनी कहते उसे कालिका।
छुटी लट इधर-उधर लटकी है,
श्यामवक्ष पर खेल रही हैं
सूर्य-किरण-रेखाएँ,—
एक पर दृष्टि ज़रा अटकी है—
देखा,—एक कली चटकी है।
लहरों पर लहरों का चञ्चल नाच,
याद नहीं थी करनी इसकी जाँच,

अगर पूछता कोई तो वह कहती—
उसी तरह हँसती पागल-सी बहती—
"जवानी की यह प्रबल उमंग,
आ रही मैं मिलने के लिये—पारकर सीमा—
प्रियतम असीम के संग।"

प्रलाप

वीणा-निन्दित वाणी बोल !
संशय-अंधकारमय पथ में भूला प्रियतम तेरा—
सुधाकर-विमल-धवल मुख खोल !
प्रिये ! आकाश प्रकाशित करके,
शुष्क-कण्ठ कण्टकमय पथ पर
छिड़क ज्योत्स्ना घट अपना भर भरके !
शुष्क हूँ—नीरस हूँ—उच्छृङ्खल—
और क्या क्या हूँ, क्या मैं दूँ अब इसका पता,
बता तो सही किन्तु वह कौन घेरनेवाली
बाहुवल्लियों से मुझको है एक कल्पना-लता ?
अगर वह तू है तो आ चली,—
विहग-गण के इस कल कूजन में,—
लताकुंज में मधुप-पुञ्ज के 'गुन् गुन् गुन्' गुंजन में;
क्या सुख है यह कौन कहे सखि,
निर्जन में इस नीरव मुख-चुम्बन में ?
अगर बतायेगी तू पागल मुझको
तो उन्मादिनी कहूँगा मैं भी तुझको;

अगर कहेगी तू मुझको 'यह है मतवाला निरा'
तो तुझे बताऊँगा मैं भी लावण्य-माधुरी-मदिरा;
अगर कभी देगी मुझको तू कविता का उपहार
तो मैं भी तुझे सुनाऊँगा भैरव के पद दो चार।

शांति—सरल मन की तू कोमल कान्ति—
यहाँ अब आ जा,
प्याला—रस कोई हो—भर कर
अपने ही हाथों से मुझे पिला जा,
नस नस में तु आनन्द-सिंधु की धारा प्रिये बहा जा;
शिथिल हो जायें सारे इस शरीर के बंधन,
चेतना मेरी होये लुप्त,
भूल जाऊँ अपने को कर दे मुझे अचेतन।
भूलूँ मैं कविता के छन्द,
अगर कहीं से आये सुर-संङ्गीत—
अगर बजाए तू ही बैठ बगल में कोमल तार
तो कानों तक आते ही रुक जाये उनकी झनकार;
भूलूँ मैं अपने मन को भी
तुझको—अपने प्रियजन को भी ?

फिर तू हँसती हुई दशा पर मेरी, प्रिय मुख मोड़,
जायेगी ज्यों का त्यों मुझको यहाँ अकेला छोड़ !
भला इतना तो कह दे—सुख या दुख भर देगी
क्या इस नद से तू कभी नहीं नैया अपनी खेयेगा ?

उसकी स्मृति में

मृदु सुगन्ध-सी कोमलदल फूलों की,
शशि-किरणों की-सी वह प्यारी मुसकान,
स्वच्छन्द गगन-सी मुक्त, वायु-सी चंचल,
खोई स्मृति की फिर आई-सी पहचान;
लघु लहरों की-सी चपल चाल वह चलती,
अपने ही मन से निर्जन वन की ओर,
चकित हुई चितवन वह मानों कहती—
मैं ढूँढ रही हूँ उस अजान का छोर।
मन्द पवन के झोंकों से लहराते काले बाल,
किस अनन्त को फाँसेगी री फैलाया यह जाल!
वह विचर रही थी, मानस की प्रतिमा-सी
उतरी इस जगतीतल में,
वन के फूलों को चुनकर बड़े चाव से
रखती थी लघु अंचल में,
यों उस सरलता-लता में
सब फूल आप लग जाते,
अनुपम शोभा पर उसकी
कितने न भँवर मड़राते!

उसके गुण गाने वाले—
लग जाते फुर फुर उड़कर
मधुमद के प्यासों ही के
पर उसने कतरे थे पर !
क्या जाने उसने किसको पहनाई थी
अपने फूलों की सुन्दर अपनी माला,
क्या जाने किसके लिये यहाँ आई थी,
वह सुर-सरिता-सैकत सी गोरी बाला !
वह भटक रही थी वन में मारी मारी,
था मिला उसे क्या उसका वही अनन्त ?
वह कली सदा को चली गई दुनिया से
पर सौरभ से है पूरित आज दिगन्त

—

यमुने !

किसकी स्वप्नों-सी आँखों की
पल्लव-छाया में अम्लान
यौवन की माया-सा आया
मोहन का सम्मोहन ध्यान ?
गन्धलुब्ध किन अलिबालों के
मुग्ध हृदय का मृदु गुञ्जार
तेरे दृग-कुसुमों की सुषमा
जाँच रहा है बारम्बार ?

यमुने, तेरी इन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक-प्रिया-सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान ?

सजनि ! कहाँ अब वह वंशीवट ?
कहाँ गये नट-नागर श्याम ?
चल-चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ—कहाँ वह केलि-ललाम ?

कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्यामविरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछतीं वे दृग-नीर ?
रंजित सहज सरल चितवन में
उत्कण्ठित सखियों का प्यार
सखि ! आँसू-सा ढुलक गया वह
विरह-विधुर उर का उद्‌गार ?
तू किस विस्मृति की वीणा से
उठ उठकर कातर झनकार
उत्सुकता से उकता उकता
खोल रही श्रुति के दृढ़ द्वार ?—
अलस प्रेयसी-सी स्वप्नों में
प्रिय की शिथिल सेज के पास,
लघु लहरों के मधुर स्वरों में
किस अतीत का गूढ़ विलास ?
उर-पुर में नूपुर की ध्वनि-सी
मादकता की तरल तरङ्ग
विचर रही है मौन पवन में
यमुने ! किस अतीत के संग ?

किस अतीत का दुर्जय जीवन
अपनी अलकों में सुकुमार
कनक-कुसुम सा गूँथा तू ने
यमुने—किसका रूप अपार ?
निर्निमेष नयनों में छाया
किस विस्मृति-मदिरा का राग ?—
अबतक पलकों के पुलकों में
झलक रहा है विपुल सुहाग !

मुक्त हृदय के सिंहासन पर
किस अतीत के वे सम्राट
दीप रहे जिनके मस्तक पर
रवि-शशि-तारे-विश्वविराट ?

निखिल विश्व की जिज्ञासा सी
आशा की तू झलक अमन्द,
अन्तःपुर की निज शय्या पर
रचती मृदु छन्दों के बन्द,
किस अतीत के सुहृद-करों में
अर्पित करती है निज ध्यान—
ताल ताल के द्रुत कम्पन में
बहते हैं ये किसके गान ?

विहगों की निद्रा-से नीरव
कानन के संगीत अपार
किस अतीत के स्वप्नलोक में
करते हैं मृदु-पद-संचार ?

मुग्धा के लज्जित पलकों पर
तू यौवन की छवि अज्ञात
आँखमिचौनी खेल रही है
किस अतीत-शिशुता के साथ ?

किस अतीत-सागर-संगम को
बहते खोल हृदय के द्वार
बोहित के हित सरल अनिल से
नयन-सलिल से स्रोत अपार ?

उस सलज्ज ज्योत्स्ना-सुहाग को
फेनिल शय्या पर सुकुमार,
उत्सुक, किस अभिसार-निशा में,
गई कौन स्वप्निल पर मार ?

उठ उठकर अतीत विस्मृति से
किसकी स्मिति यह—किसका प्यार
तेरे श्याम कपोलों में खिल
कर जाती है चकित विहार ?

जीवन की इस सरस सुरा में
सखि ! है किसका मादक राग
फूट पड़ा तेरी ममता में
जिसकी समता का अनुराग ?
किन नियमों के निर्मम बन्धन
जग की संसृति का परिहास
कर, बन जाते आकुल क्रन्दन ?
सखि, वे किसके निर्दय पाश ?—

* * *

सन्तप्त

अपने अतीत का ध्यान
करता मैं गाता था गाने—भूले, कुछ म्रियमाण;
एकाएक क्षोभ का अन्तर में होते संचार
उठी व्यथित उँगली से कातर एक तीव्र झनकार,
विकल वीणा के टूटे तार !
मेरा आकुल-क्रन्दन—
व्याकुल वह स्वर-सरित-हिल्लोर
वायु में भरती करुण मरोर,
बढ़ती है तेरी ओर।
मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर—
सदा अधीर,
मेरे ही बन्धन से निश्चल
नन्दन-कुसुम-सुरभि-मधु-मदिर समीर;
मेरे गीतों का छाया अवसाद,
देखा जहाँ वहीं है करुणा—
घोर विषाद।
ओ मेरे !—मेरे उन्मोचन-बन्धन !
ओ मेरे !—ओ मेरे क्रन्दन-वन्दन !

ओ मेरे अभिनन्दन !
ये सन्त्रस लिख कब होंगे गीत
हृत्तल में तब जैसे शीतल चन्दन ?

आग्रह

माँ, मुझे वहाँ तू ले चल
देखूँगा मैं भी तेरा वह द्वार—
दिवस का पार—
मूर्छित हुआ पड़ा है जहाँ वेदना का संसार,—
करती है तरणी से तटिनी छल-छल—
कुलकुल-कलकल-कलकल-टलमल-टलमल;
माँ, मुझे वहाँ तू ले चल!
उतर रही है लिये हाथ में प्यारा तारा-दीप
इस अरण्य में बढ़ा रही है पैर, सभीत,
बता, कौन वह?—
किसका है वह अन्धकार-सा अञ्चल?
माँ, मुझे वहाँ तू ले चल!

—

विधवा

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर कालताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की विधवा है।
षड्ऋतुओं का शृंगार,
कुसुमित कानन में नीरव पद-संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है
उसका एक स्वप्न अथवा है।
उसके मधुसुहाग का दर्पण,
जिसमें देखा था उसने
बस, एक बार बिम्बित अपना जीवनधन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा—वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ, वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा!

हैं करुणा-रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा तो भीगी मन-मधुकर की पाँखें;
रसावेश में निकला जो गुंजार
वह और न था कुछ, था बस हाहाकार।
करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर,
टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ा कर,
छिपे हुए भींगे अंचल में मनको—
रूखे-सूखे अधर—त्रस्त चितवन को
दुनिया की नज़रों से दूर बचाकर
वह रोती अस्फुट स्वर में;
सुनता है आकाश धीर निश्चल-समीर—
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहर कर।

आवाहन

एक बार बस और नाच तू श्यामा !
सामान सभी तय्यार,
कितने ही हैं असुर, चाहिए कितने तुझको हार ?
कर मेखला—मुण्डमालाओं से बन मन-अभिरामा
एक बार बस और नाच तू श्यामा !

भैरवी भेरी तेरी झंझा
तभी बजेगी मृत्यु लड़ायेगी जब तुझसे पञ्जा;
लेगी खड्ग और तू खप्पर
उसमें रुधिर भरूँगा माँ
मैं अपनी अंजलि भर भर;
उँगली के पोरों में दिन गिनता ही जाऊँ क्या माँ ?
एक बार बस और नाच तू श्यामा !

अट्टहास-उल्लास-नृत्य का होगा जब आनन्द,
विश्व की इस वीणा के टूटेंगे तब तार,
बन्द हो जायेंगे ये सारे कोमल छन्द,
'सिंधु'-राग का होगा तब आलाप,
उत्ताल तरंग-भंग कह देगा

मॉं, मृदंग के सुस्वर क्रियाकलाप,
और देखूँगा, देते ताल
करतल-पल्लव दल से निर्जन वन के सभी तमाल;
निर्भर के 'झर-झर'-स्वर में तू 'सरिगम' मुझे सुना मां !
एक बार बस और नाच तू श्यामा !

गोविन्दवल्लभ पन्त

जन्म-काल—सन् १८९९ ई०　　　　जन्म-भूमि—अलमोड़ा

असिस्टेण्ट मास्टर
ए० बी० मिशन-स्कूल,
रानीखेत

उसके हृदय की रंगस्थली पर, सरलता और कोमलता आलिंगन करती हुई, अपना 'रास' रचती हैं। जब कभी उसके अधरों पर काव्यमय संगीत बज उठता है, तब ये दोनों सखियाँ अनेक रूपों में, अनेक हृदयों में अदृश्य अभिनय करने लगती हैं।

चंचलता

चंचलता ! कैसी चंचलता ! शासन करती है जग में ।
जल में, थल में, अनिल-अनल में, नभ में, मग में पग-पग में ॥
चंचल पृथ्वी, चंचल दिनकर, चचल हैं शशि-कर तारा ।
चंचल कादम्बिनी—चंचला, चंचल है वारिद-धारा ॥
चंचल बिम्बाधर-तट-अङ्कित विमल हास्य-रेखा चंचल ।
चंचल अंचल-आश्रित अविरल अबला का चंचल दृग-जल ॥
चंचल चंचलता किशोर की, चंचल ज्वाला यौवन की ।
चंचल अनुभव-प्राप्त-धीरता दीन वृद्ध के तन-मन की ॥
चंचल लक्ष्मी, चंचल शोभा, चंचल यौवन का सुवसन्त ।
अन्त-शून्य धरणी-सीमा का चंचलता हो में है अन्त ॥
चंचल सुख-दुख, आशा-निराशा, चंचल सन्ध्या और प्रभात ।
चंचलता के चक्र कुटिल में बन्दी मानव-कुल दिन-रात ॥

गान

(१)

(भैरवी—तीन ताल)

कहाँ मिलेगा प्राणाधार,
प्राणाधार, स्नेहागार ?
मन्दिर के नीरव पत्थर में, भक्तों के शुचि सुमधुर स्वर में,
पृथ्वी में, नभ में, सागर में, अनल-अनिल में तिल-तिल भर में,
सुना तुम्हारा है आगार;
क्या यह सच है प्राणाधार ?
स्नेहमयी जसुमति के कर में, विरह विधुर राधा-अन्तर में,
कृष्णा के अनन्त अम्बर में, या काली कुब्जा के घर में,
या इस वसुधा के उस पार;
कहाँ छिपा है प्राणाधार ?
क्या निष्फल होगा यह यौवन, शैश, जागरण, दिन का रोदन,
क्या मेरा यह लघुतम जीवन, होगा शेष बिना जीवन-धन ।
क्या होगी यह व्यर्थ पुकार;
नहीं मिलेगा प्राणाधार ?

कूल-कदम्ब, कालिन्दी-तट में, गिरि-गह्वर, वसुधा के पट में,
ब्रजवीथी, वन, वंशीवट में, जन, जनपद, पथ औ' पनघट में,
खोजा; खोज हुई लाचार;
नहीं मिला वह प्राणाधार !

(२)

(गौड़मलार—तीन ताल)

श्यामघन, हे सुन्दर सुकुमार !
विश्व-जननी के हास समान,
कौन तुम अनुपम दयानिधान ?
तुम्हारा धन्य अयाचित दान !
ताप से तप्त भूमि है आज,
बहा दो शीतल जल की धार,
श्यामघन, हे सुन्दर सुकुमार !

दुखी, निर्वासित, दुर्बल वेश—
यक्ष का लेकर दारुण क्लेश—
अश्रु औ' विरहपूर्ण सन्देश,
दूत बन जाते हो क्या आज,
विरह-विधुरा बाला के द्वार ?
श्यामघन, हे सुन्दर सुकुमार !

कौन तुम, किसके हो सन्ताप ?
दीन विधवा के करुण विलाप,

या कि दलिता नारी के शाप ?
तड़ित-गति से जाते हो कहाँ,
—डुबाने को सारा संसार ?
श्यामघन, हे सुन्दर सुकुमार !

भूल कर अपना तन-धन-धाम
रट रहा है वह तेरा नाम,
बहा दे एक बूँद घनश्याम !
बुझा दे उस चातक की प्यास,—
जिसे है तेरा ही आधार,
श्यामघन, हे सुन्दर सुकुमार !

इधर तुम बरसाते रस-धार,
प्रकृति ने किया उधर शृंगार।
आज गाऊँगा राग-मलार—
खो चुका हूँ मन का संकोच,
मिल गये हैं वीणा के तार,
श्यामघन, हे सुन्दर सुकुमार !

———

(३)

(कालिंगड़ा—तीन ताल)

आज नवीन वसन्त-उषा में—
मेरी भग्न-कुटी के द्वार,
कौन नवीन अतिथि आया है
लेकर मृदु-नूपुर-झंकार ?

मेरी ही इस दीन दशा से—
करने को मेरा उपहास,
कौन कुंज में गूँथ रहा है
मेरी अश्रु-राशि से हार ?

आज कोयल के स्वर से मुझको—
क्यों होता है इतना राग—
भूल गया हूँ अब मैं गाना,
टूट गये वीणा के तार ?

कैसे धैर्य धरूँ ?—इस मुख में—
लज्जा, घट, घूँघट का भार,
इधर आम में बौर, बौर में
मधु, मधु में मधुकर गुञ्जार !

आहत स्मृति के निभृत निलय में—
है मम भग्न वासना सुप्त,
उसको छेड़ जगाने को यह
किसने किया आज श्रृङ्गार ?

आये हो हो तो आओ,
मैं छल से, बल से, कौशल से—
हर कर अखिल विश्व-श्री मैं इन
चरणों में दूँगा उपहार ।

—

(४)

(भीमपलासी—तीन ताल, मात्रा १६)

हे अनजान विदेशी आज।

पूलि-धूसरित तन है तेरा,
यात्रा-श्रान्त वदन है तेरा।
अस्ताचल में डूबे दिनपति
कहाँ चले तुम मन्द-मन्द गति—
हे अनजान विदेशी आज।

पशु, कंटक परिपूरित मग है,
कर है रिक्त, नग्न तव पग है।
सदन दूर है, निशि समीप है,
ऊपर शशि, नीचे न दीप है—
हे अनजान विदेशी आज।

मेरे निभृत निलय में आओ,
पावन करो, कृतार्थ बनाओ।
कहना मानो, कहीं न जाओ,
इस रजनी को यहीं बिताओ—
हे अनजान विदेशी आज।

——

सुमित्रानन्दन पन्त

जन्म-काल—सन् १९०१ की १४ वीं मई जन्म-भूमि-अलमोड़ा

देवी-भवन,
अलमोड़ा

भावों के मधुर-स्रोत में बहते हुए उस पहाड़ी-निर्झर को देखिए—

वह कुछ गाता हुआ अपनी ही धुनि में निमग्न आगे बढ़ा चला जा रहा है। हाँ, वह जा रहा है—अपनी मृदुल-स्वर-लहरी को किसी विराट उत्ताल-तान-तरङ्ग में मिलाने!—अपने छोटे-से गायक हृदय को अनन्त जीवन के महान संगीत से प्रज्ञ किसी धुरन्धर कविर्मनीषी के निस्सीम हृदय में विलीन करने!

वह अतल से अपने गीले-स्वरों को फूँक-फूँक कर बाहर फेंकता है, तब, उसके साथ-साथ प्रकृति सुन्दरी भी लगातार भूगोल और खगोल पर अपनी कोमल थपकियों से ताल दे देकर थिरकती रहती है!!

मौन-निमन्त्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;

न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन !

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार;
दीर्घ भरता समीर निश्वास,
प्रखर झरती जब पावस-धार;

न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इङ्गित करता तब मौन !

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के-से मृदु उद्‌गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास;

न जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेसा मुझे भेजता मौन !

क्षुब्ध जल-शिखरों को जब बात
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने, मुझे बुलाता मौन !

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर
विहग-कुल की कल-कण्ठ-हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर;
न जाने, अलस-पलक-दल कौन
खिला देता तब मेरे मौन !

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार;
न जाने, खद्योतों से कौन
मुझे तब पथ दिखलाता मौन !

कनक-छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
पिघल, बन जाते हैं गुंजार,
न जाने, ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !

बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शय्या में, श्रमित अपार,
जुड़ाता मैं जब आकुल प्राण,
न जाने, मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया-जग में मौन !

न जाने कौन, अये द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान;
अहे सुख-दुख के सहचर मौन,
नहीं कह सकता तुम हो कौन !

स्वप्न

बालक के कम्पित अधरों पर
किस अतीत स्मृति का मृदु-हास,
जग की इस अविरत निद्रा का
करता है रह-रह उपहास ?

स्वप्नों की इस स्वर्ण-सरित का
सजनि ! कहाँ है जन्मस्थान ?
मुसकानों में उछल-उछल वह
बहती है किस ओर अजान !

किन कर्मों की जीवित-छाया
उस निद्रित-विस्मृति के संग,
आँख-मिचौनी खेल रही है
किन भावों की गूढ़-उमङ्ग !

मुँदे नयन-पलकों के भीतर
किस रहस्य का सुखमय चित्र
गुप्त-वञ्चना के मादक-कर
खींच रहे हैं सजनि ! विचित्र !

निद्रा के उस अलसित वन में
वह क्या भावी की छाया,

        दृग-पलकों में विचर रही है,
        भुवनमोहिनी या माया ?
नयन-नीलिमा के लघु-नभ में
वह किस सुखमा का संसार,
विरल इन्द्रधनुषी-बादल-सा
बदल रहा है रूप अपार ?
        अलि ! मृदु-पलकों के प्यालों में
        किस स्वप्निल-मदिरा का राग,
        इन्द्र-जाल-सा गूँथ रहा है,
        किन पुष्पों का स्वर्ण-पराग ?
किन इच्छाओं के पङ्खों में
उड़-उड़ ये आँखें अनजान,
मधु-बालों-सी छाया-वन की
कलियों का मधु करतीं पान ?
        मानस की फेनिल लहरों पर
        किस छवि की किरणें अज्ञात,
        स्वर्ण-वर्ण में लिखतीं अविदित
        तारक-लोकों की शुचि-बात !
अलि ! किन जन्मों की सञ्चित-सुधि
बजा सुप्त-तन्त्री के तार,

नयन-नलिन में बँधी मधुप-सी
करती मर्म मधुर-गुञ्जार ?
पलक-यवनिका के भीतर छिप,
हृदय-मञ्च पर आ छविमय,
सजनि ! अलस के मायावी-शिशु
खेल रहे कैसा अभिनय ?
मीलित-नयनों का अपना ही
यह कैसा छायामय-लोक ?
अपने ही सुख-दुख, इच्छाएं,
अपनी ही छवि का आलोक !
मौन-मुकुल में छिपा हुआ जो
रहता विस्मय का संसार,
सजनि ! कभी क्या सोचा तू ने
वह किसका है शयनागार ?
प्रथम स्वप्न उसमें जीवन का
रहता है अविकच, अज्ञान,
जिसे न चिन्ता छू पाती है,
जो है केवल अस्फुट-गान ।
जब शशि की शीतल-छाया में
रुचिर रजत-किरणें सुकुमार,

प्रथम खोलती हैं कलिका के
अन्तःपुर के कोमल-द्वार;
अलिबाला से सुन तब सहसा—
"जग है केवल स्वप्न-असार,"
अर्पित कर देती मारुत को
वह अपने सौरभ का भार।
हिम-जल बन, तारक-पलकों से
उमड़ मोतियों-से अवदात,
सुमनों के अधखुले-दृगों में
स्वप्न लुढ़कते हैं जो प्रात;
उन्हें सहज अञ्चल में चुन-चुन
गूँथ उषा-किरणों में हार,
क्या अपने उर के विस्मय का
तू ने किया कभी शृंगार?
विजन-नीड़ में चौंक अचानक
विटप-बालिका पुलकित गात
जिन सुवर्ण-स्वप्नों की गाथा
गा-गाकर करती है प्रात,
जननि! कभी क्या सोचा तू ने,
तरुओं के तम में चुप-चाप,

दीप-शलभ दीपों को चमका
करते हैं जो मानालाप ?
        या जलनिधि की पुलकावलि-सी
        सलिल-बालिकाएँ सुकुमार,
        सिन्धु-स्वप्न-सी उमड़, अतल के
        बतलातीं जो भेद-अपार;
अलि ! जिस स्वप्नों की भाषा में
इङ्गित करते तरु के पात,
जहाँ प्रात को छिप जाती है
वह स्वप्नों से जगमग-रात ?
        दिनकर की अन्तिम किरणों ने
        उस नीरव-तरु के ऊपर,
        स्वप्नों का जो स्वर्ण-जाल है
        फैलाया सुखमय, सुन्दर;
विहग-बालिका बन हम दोनों
वहाँ बैठ पल-भर एकान्त,
चल सखि ! स्वप्नों पर कुछ सोचें,
दूर करें निज श्रान्ति-नितान्त।
        सजनि ! हमारा स्वप्न-सदन क्यों
        काँप उठा सहसा थर-थर !

किस अतीत के स्वप्न-अनिल में
गूँज उठे, कर-मृदु भर-भर !
विरस-डालियों से यह कैसा
फूट रहा है रुदन-मलिन,—
हम भी हरी-भरी थीं पहले
पर अब स्वप्न हुए वे दिन !

पत्रों के विस्मित अधरों से
वह किसका अस्फुट-संगीत,
मौन-निमंत्रण भेज रहा है
अन्धकार के पास सभीत !
सघन द्रुमों में झूम रहा अब
निद्रा का नीरव-निःश्वास,
मूँद रहा है अन्धकार में
रह-रह अलस-पलक आकाश !

जग के निद्रित-स्वप्न सजनि ! सब
इसी तिमिर में बहते हैं,
पर जागृति के स्वप्न हमारे
अन्तर ही में रहते हैं।
अह ! किस गहरे-अन्धकार में
डूब रहा धीरे संसार,

कौन जानता है कब इसके
छूटेंगे ये स्वप्न-असार !
अलि ! क्या कहती है—"प्राची से
फिर उज्ज्वल होगा आकाश ?"
पर, मेरे तमपूर्ण-हृदय में
कौन भरेगा प्रकृत-प्रकाश ! !

वीचि-विलास

अरी सलिल की लोल-हिलोर !
यह कैसा स्वर्गीय-हुलास ?
सरिता की चंचल दृग-कोर !
यह जग को अविदित-उल्लास ?

　　　　आ, मेरे मृदु-अङ्ग-झकोर,
　　　　नयनों को निज छवि में बोर,
　　　　मेरे उर में भर यह रोर।

गूढ़-साँस-सी अति-गति-हीन
अपने ही कम्पन में लीन;
सजल-कल्पना-सी साकार
पुनः पुनः प्रिय पुनः नवीन;

　　　　तुम शैशव-स्मिति-सी सुकुमार,
　　　　मर्म-रहित, पर मधुर अपार,
　　　　खिल पड़ती हो बिना विचार।

वारि-वेलि-सी फैल अमूल,
आ अपात सरिता के कूल,
विकसा औ, सकुचा नवजात
बिना नाल के फेनिल-फूल;

छुई-मुई-सी तुम पश्चात
छूकर अपना ही मृदु-गात,
मुरझा जाती हो अज्ञात !
स्वर्ण-स्वप्न-सी कर अभिसार
जल के पलकों में सुकुमार;
फूट आप ही आप अजान
वीणा की-सी मृदु-झङ्कार,
तुम इच्छाओं-सी असमान,
छोड़ चिन्ह उर में गतिवान,
हो जाती हो अन्तर्धान !
मुग्धा की-सी मृदु-मुसकान,
खिलते ही लज्जा से म्लान;
स्वर्गिक सुख की-सी आभास
अतिशयता में अचिर; महान—
दिव्य-भूति-सी आ तुम पास,
कर जाती हो क्षणिक विलास
आकुल-उर को दे आश्वास ।
ताल-ताल में थिरक अमन्द,
सौ-सौ-छन्दों में स्वच्छन्द,
गाती हो निस्तल के गान,

सिन्धु-गिरा-सी अगम, अनन्त;
कुमुद-करों से लिख अम्लान,
तारों के रोचक-आख्यान,
अम्बर के रहस्य द्युतिमान !
चला मीन-दृग चारों ओर
गह-गह चञ्चल-अञ्चल-छोर,
रुचिर रुपहरे-पङ्ख पसार,
मरी वारि की परी-किशोर !
तुम जल, थल में अनिलाकार,
अपनी ही लघिमा पर वार,
करती हो बहुरूप-विहार।
अङ्ग-भङ्गि में व्योम-मरोर,
भौंहों में तारों के झौंर,
नचा नाचती हो भरपूर,
तुम किरणों की बना हिंडोर;
निज अधरों पर कोमल, क्रूर,
शशि से दीपित प्रणय-कपूर,
चाँदी का चुम्बन कर चूर।
खेल मिचौनी-सी निशि भोर
कुटिल काल का भी चित-चोर;

जन्म, मरण से कर परिहास,
बढ़ असीम की ओर अछोर;
तुम फिर फिर सुधि-सी सोच्छ्वास,
जी उठती हो बिना प्रयास,
ज्वाला-सी पाकर वातास।
ओ अकूल की उज्ज्वल-हास!
अरी अतल की पुलकित-साँस!
महानन्द की मृदुल-उमङ्ग!
ओ अमेय की मञ्जुल-लास!
मेरे मन की विविध तरङ्ग,
रङ्गिणि! सब तेरे ही सङ्ग
एक रूप में मिलें अनङ्ग।

मोहनलाल महतो गयावाल

"वियोगी"

जन्म-काल—सं० १९५९ जन्म-भूमि—ऊपरडीह

ऊपरडीह,

गया

भौतिक विश्व को सीमा से बाहर उसने अपने जीवन का नया संसार निर्माण किया है, वहाँ वह है और उसको उत्फुल्ल-रागिनी।

उसे हम अज्ञात समझते हैं पर जब उसकी रागिनी बजती है,—एकाएक मालूम होता है, जो स्वर उसके हृदय से अठ-खेलियाँ करते हुए आ रहे हैं, वे हमारे ही जीवन-संगीत के परिष्कृत राग हैं।

आँसू !

हे मेरी आँखों के आँसू !
हे इस जीवन के इतिहास !
छलक पड़ो मत, रहो अन्त तक,
उमड़े, इस दुखिया के पास ।

हे करुणा के चिन्ह !
अहो अभिलाषा की नीरव- भाषा !
मत ढुलको है टँगी हुई—
तुम पर ही मेरी शुभ-आशा ।

हृदय-वेदना के परिचायक !
निराधार के हे आधार !
अन्तस्तल को धोने वाले !
हे मेरे सुमूक मद्दगार !

हे मेरी असंख्य भूलों के—
मूर्तिमान सच्चे-अनुताप !
शीतल करते रहो सदा
इस दग्ध हृदय का भीषण ताप ।

हे कितनी घटनाओं की स्मृति !
हे मेरी आसों की लाज !

क्या जानें क्या, तुम्हें छलकता
देख कहेगा क्षुब्ध-समाज ?
कितने स्नेह, शोक के हो—
उपहार-तुल्य तुम मेरे पास ।
बात-बात में यों मत छलको
उठ जावेगा फिर विश्वास ।
कह न उठे जिससे सहसा वह—
बना रहे सुखदायक शान्त ।
रक्खा है प्रज्वलित प्रेम को
तुम में डुबा, अहो उद्भ्रान्त !
बार-बार इस नीरस जग को
अपना रूप न दिखलाओ ।
उषाकाल के तारा-गण-से
इन नयनों में छिप जाओ ।
हे मेरे इस जीवन-भर की—
कठिन कमाई ! छिपे रहो ।
आवश्यकता नहीं तुम्हारी आई,
भाई ! छिपे रहो ।
नहीं सफाई देने की—
बारी आई है छिपे रहो ।

नहीं झलक अब तक प्रियतम ने
दिखलाई है छिपे रहो।
यों ही ढलक पड़ोगे तो,
मिट्टी में मिल जाओगे यार !
"लोचन जल रहु लोचन कोना"
यही विनय है बारम्बार।

——

पागल का प्रलाप

ढले-ढले, हाँ, खूब ढले,
दस-बीस पात्र ख़ाली कर दो।
यह लो प्रिये! पी लिया
इस प्याले में द्राक्षारस भर दो।

तू भर-भर कर पिला,
बनें जिससे ये आँखें गुल्लाला।
चढ़े मज़े में नशा, अहा!
भरती जा प्याले पर प्याला।

गुप्त लालसा जाग उठे —
मेरे इस मत्त हृदय में आज।
मेरा पीना देख चकित हो विश्व,
और हो स्तब्ध समाज।

तेरे अधरामृत-सा यह प्याला—
होठों से लगा रहे।
पीने का अनुराग "वियोगी"
प्रबल रूप से जगा रहे।

इतना ढले कि, सारे जग को—
मदिरा का प्याला देखूँ।
अपने में मैं तुम्हें, और,
तुम में मैं अपने को देखूं।

—

मेरा पता

अन्तिम रवि की अन्तिम किरणों—
से भूषित होगा संसार।
अन्तिम बार चन्द्र का चुम्बन—
कर लेगा बद् पारावार।
आशा-पथ के धीर पथिक की—
गति का होगा सत्वर अन्त।
शयन करेगा स्वयं अन्त के—
शान्त अंक में श्रान्त अनन्त।
उस चिर रजनी में, हे नाविक!
जीर्ण-तरी को मत खेना।
अपने मन से नीरव-स्वर में
मेरा पता पूछ लेना।
अखिल विश्व की वीणाओं के—
टूट जायँगे सारे तार।
अन्तस्तल में "सोऽहम्, सोऽहम्,"
गूंज उठेगा बारम्बार।
जनाकीर्णता परिवर्तित हो—
हो जायेगी एकाकार।

चिर-सारथि की चक्रध्वनि से,
मुखरित होगा सब संसार।
पतन-अभ्युदय-पथ के पंथी !
युग-युग हाय ! चले जाना।
तेरे पथ का अन्त जहाँ पर
होगा, वहीं मुझे पाना !

लक्ष्मीनारायण मिश्र

'श्याम'

अवस्था—२३ वर्ष जन्म-भूमि—बस्ती

गाँव—बस्ती

पोस्ट—रामपुरडीह

जिला—आज़मगढ़

अन्तर्जगत उसका चित्रपटल है, वाणी उसकी अदृश्य तूलिका है और वह है—अभिनव चित्रकार। अन्तर्जगत की भावनाओं को भिन्न-भिन्न रङ्गों में चित्रित कर वह हमारे सामने रख देता है।

शीतलता, हिमकर किरनों में;
जीवन, मलय-पवन में;
मैं अविराम-नृत्य,—तारों में
आकुलता हूँ घन में।
छिड़ता है संगीत गगन में—
सिन्धु-किनारे मेरा;
दिनमणि के उस अरुण लोक का—
मैं हूँ शान्त सवेरा!!

अन्तर्जग की करुण-कहानी—
कहना मुझको आता;
यह बहिरंग जगत मेरी—
आँखों को तनिक न भाता!
वह अनादि व्यापक प्रकाश चित,
रहता मेरे मन में,
उसकी केवल एक किरण—
करती प्रकाश जीवन में!

आज बज उठी तेरे कर से—
वीणा,—मेरे मन की;
आशातीत-अतिथि ! कैसी—
लीला तेरी इस क्षण की ?
जागृत तन्त्री हुई अचानक—
वह चिरदिन की सोई !
सुला सकेगा क्या उसको फिर—
इस जगती में कोई ! !

जब असीम सौन्दर्य जगत का—
स्मृति हो—मेरे मन में,
अन्तर्जग की विकसित सुषमा,
निरखूँ तेरे तन में ! !

जुटते और टूटते जग के—
नाते स्वप्न-सरीखे;
नहीं चाहता मैं इनको, वे—
लगते मुझको तीखे !
मिलन-रात्रि के चिर-चुम्बन से
मम सम्बन्ध निराला;
केलि-सदन में मैं जल कर हूँ—
करता मधुर-उजाला ! !

शीतल-स्निग्ध-प्रकाश—ज्ञान का-
तेज-रहित जब होता;
विश्व-सम्मिलन-सुख का रुकता—
जब जगती में 'सोता';
इस अत्यावर्तन से होता—
कुछ भी क्षोभ न मुझको;
मेरे हृदय ! देखता हूँ मैं—
लेकर 'कर' में तुमको ! !

तेरी धुन में मस्त अश्रु-कण—
निकले दृग से जितने,
कहीं ठहरते तो, बन जाते—
कोहनूर वे कितने ! !

वशीभूत करने का इस उन्मत्त—
हृदय को मेरे,
मोहन-मन्त्र—दिया विधि ने क्या—
इन नयनों को तेरे ?
निकल-निकल कर सहसा इनसे
मधुर तेज की किरनें,
मेरे जग के तिमिर-सिन्धु में—
आकर लगतीं तिरनें ! !

हँसते हुए तुम्हें देखा था—
हिमकर नील-गगन में,
उस दिन प्रथम चरण डाला था—
मैंने इस जीवन में !
अगणित बार तुम्हें देखा पर—
कभी न थे तुम इतने,
आज जगत से विदा-समय—
तुम सुन्दर लगते जितने ! !

ज्ञात नहीं था मुझे तुम्हारे—
अन्तस्तल का जलना;
उस कातर-भिक्षा को मैंने—
समझी तेरी छलना !
तेरे स्वर की वह आकुलता—
आकर मेरे मन में,
करुणा भरती है दारुण—
प्रत्येक रक्त के कण में ! !

लटका सुन्दर चित्र गले में—
मैं जगती के दुख का;
आता तेरे पास निरन्तर—
रङ्ग चढ़ाये सुख का !
मुझे सामने भी न देखते,—
व्यस्त चित्र-दर्शन में;
उसकी पूजा में देखोगे—
मुझको अपने मन में ! !

तेरी स्मृति के मधुर-अंक में—
देख पड़ा यह सपना—
"सर्वनाश करना ही सुख है,
सबसे बढ़ कर अपना !"

जो अनादि संगीत हो रहा—
मेरे नीरव मन में;
उसकी एक तान ऊपर उठ—
कहीं समाती घन में—
वृष्टि दया की अन्तरिक्ष के—
अन्तस्तल से होती;
उसके शीतल मधुर अंक में—
दुख की ज्वाला सोती !

सत्य जान पड़ती यदि मुझको—
यह असीम की पीड़ा,
तो, क्षण में रुक जाती मेरी—
इस जीवन की क्रीड़ा।
मुझे देख पड़ता केवल—
मेरा दुख जग के मन में;
बोझ अनन्त काल का होकर—
पड़ता है प्रतिक्षण में ! !

वह अज्ञात एक आँधी थी
जिसने मुझको क्षण में,
पटक दिया उत्सव-मन्दिर से—
खींच, व्यथा के वन में।
क्षुब्ध हुए जीवन-सागर की—
लहरें प्रति-पल गातीं,
उस अनन्त की ओर तभी से—
क्रमशः चलती जातीं।*

---

*[मिश्रजी ने 'अन्तर्जगत' नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है, वह अभी अप्रकाशित है—उसी में से ये पद्य लिये गये हैं। प्रत्येक पद्य अलग-अलग हैं। इनका एक दूसरे से कोई संबंध नहीं है। कवि ने पद्यों का शीर्षक देना उचित नहीं समझा, यह भी उसकी भावुकता है।

भगवतीचरण वर्मा

जन्म-संवत—१९६० जन्म-भूमि—शफीपुर (उन्नाव)

कुरुसवाँ

कानपुर

उसका अन्तस्तल आक्रान्त जगत का एक विशाल दर्पण है। उसमें प्रतिबिम्ब देखिये,—अथाह सागर लहरा रहा है और उसके तट पर दूर तक फैला हुआ उत्तप्त मरुस्थल है। उफ़।

एकान्त-रोदन

प्रतिध्वनि ! क्यों रोती है तू ? जले-हृदय को रोने दे ।
आँसू की धारा से उसको सारा विश्व भिगोने दे ॥
कुहू-निशा के कम्पित स्वर में नीरवता का करुण-कलाप ।
उमड़ रहे हैं दबे-भाव फिर रुक न सकेगा कभी प्रलाप ॥
ध्वनि उठती है—"विचलित मत हो !"
किन्तु न हूँगा अब मैं शान्त ।
तेरा अङ्क शून्य है, उसमें—
रोने आता हूँ एकान्त ॥

सुख मिलता है व्यथित हृदय को अपनी व्यथा सुनाने में ।
स्वयं तड़पने में, सुनने वालों को भी तड़पाने में ॥
स्वार्थी विश्व, कौन करता है किसी दूसरे की परवाह ।
हम हैं रोते—वे हँसते हैं, उनकी हँसी हमारी आह ! ॥
आह ! कृतघ्न-विश्व का झोंका
मुझे बनाता है उद्भ्रान्त ।
तुझसे अपनी करुण-कथा
कहने को आता हूँ एकान्त ! ॥

नाविक

[१]

टूटे हुए हृदय से किसके उमड़े भाव ज्वलन्त !
अन्त ! अन्त ! निर्भ्रान्त कालिमा में देखा था अन्त ।
आहें भड़क उठीं अह उनसे कम्पित हुआ दिगन्त,
विचलित होकर कहीं कह उठा फिर कोई "हा हन्त !"
कभी कहीं कुछ क्षीण प्रभा देखी थी मैंने हाय !
निष्ठुर झोंके उठे, बुझ गई लो वह भी निरुपाय ।
हँसा, रो उठा नभ भी मेरा देख दशा असहाय;
सहता हूँ मैं घोर यातना ! उफ् अमानुषिक न्याय !
कुहू निशा के कम्पित स्वर में नीरवता का राग
मनोवेदना की लपटों में चिन्तापूर्ण विराग ।
अविश्वास के प्रति कण-कण में घोर व्यथा की आग;
नहीं आज भी करते हैं वे निर्दयता का त्याग ।।
किसी सताये हुए हृदय की हूक ! भयानक शाप !
कसक भरी अशान्ति की लहरों का अविराम प्रलाप !
घृणापूर्ण उन्माद-युक्त फुफकारों का यह ताप !
पाप ! पाप भी कैसा ! जिसका हो ऐसा परिताप !

घोर प्रलय दरसाने वाली मतवाली सी शान्ति
नष्ट-भ्रष्ट करने वाली वह विकट भयानक भ्रान्ति।
लेती हुई हिलोरें भीषण निश्चल नैश अशान्ति;
शान्ति ! शान्ति ! हा लोप हो गई कहाँ हृदय की शान्ति !
अन्तर-तर में घृणा और करुणा का विस्तृत राज,
असफलता का क्रूर निराशा-मय वह भीषण साज !
चूर-चूर कर देने वाली विपदाओं की गाज;
हैं स्मृति की ज्वालायें ही वे मुझे जलातीं आज ॥

[२]

कहीं दूर पर क्षीण ज्योति कुछ तिमिर-राशि को खोती है,
वहाँ अहा सुखमय वीणा की ध्वनि गुञ्जारित होती है।
निविड़ कालिमा है, अथाह सागर है, रजनी रोती है,
विद्युत चमक रही है, धीरज धीरों का भी खोती है।
सब कम्पित हैं भावी-भय से टूटा फूटा है जलयान;
"नाविक ! नाविक !" कहा किसी ने "नाविक ! है यह कैसा गान।"
हाँ, बढ़ता जाता है, लहरों का बल बढ़ता जाता है,
निज हुङ्कारों से मारुत भी सबका हृदय कँपाता है।
सघन घटायें घिरीं, गरजना उनका प्रलय मचाता है,
है जलयान जर्जरित, फिर वह लहरों से टकराता है।

चारों ओर निराशा—उस पर विकट भयानक झंझाघात,
"नाविक! नाविक!" कहा किसी ने "नाविक है यह कैसी रात!"
बढ़ने दो इन लहरों को, है नहीं आज उनकी परवाह,
चढ़ने दो सागर को नभ पर हो भीषणता आज अथाह।
सहने दो निर्दय मारों को निकलेगी न एक भी आह,
बहने दो धारा में होगा नहीं क्षीण मेरा उत्साह।
हिल उठता है हृदय निराशा! नहीं मिलेगी तेरी थाह;
"नाविक! नाविक!" कहा किसी ने-"नाविक! कैसा विकट प्रवाह!"
रजनी के चञ्चल अञ्चल में नीरव नभ का विकल विलाप,
विक्षिप्तावस्था में तूफानों का हाहाकार प्रलाप!
संघर्षण! उन्मत्त उदधि का गिरि-शिखरों से गहन मिलाप,
पल-पल में डर कर पीछे हट कर हम सब उठते हैं काँप।
गरज घुमड़ कर प्रलय-नाद में जलधर भी देते हैं ताल;
"नाविक नाविक!" कहा किसी ने "नाविक! क्या करता है काल!"
विश्व-नाशिनी विकट शक्तियों का वह मदमय विजयोल्लास,
काली क्रूर कराल कालिमा का निष्ठुर निर्दय निश्वास।
तरल तरङ्गों के निनाद में आशा और शान्ति का ह्रास,
उद्भ्रान्तावस्था में हृदयोद्गारों का वीभत्स-विकास।
नाश! नाश! भीषण विनाश! अः उठता है कैसा चीत्कार!
"नाविक! नाविक!" कहा किसी ने "नाविक! कैसा कठिन प्रहार!"

———

अनन्त की ओर !

आशाओं के स्वप्न, क्षणिक जीवन के विषम-विषाद विदा !
भावों के सुख-स्वर्ग, कल्पना के सुन्दर-प्रासाद विदा !
विदा "अहं" की छलमय छाया, भ्रान्ति-पूर्ण उन्मत्त अशान्ति;
उद्‌गारों के वेग, महत्वाकांक्षा के उन्माद विदा !

माया और ममत्व, वासना के मतवाले राग-विदा !
विश्व-कुसुम के पागल करने वाले मधुर-पराग विदा !
विदा वेदना और हृदय की करुण-कथा के उपसंहार;
परिधि-रहित परिताप, और उस मौन-व्यथा की आग विदा !

लोलुप तृष्णा की उतावली-सी उन्मत्त-उमंग विदा !
यौवन-मद के दीवानेपन की वह तरल-तरङ्ग विदा !
विदा सुखों के विस्तृत सागर की उच्छृंखल-उच्च-उठान;
और नाश के भीषण-स्वर की ध्वनि-प्रतिध्वनि के व्यंग्य विदा !! *

[* कविवर वर्माजी ने 'कैदी' नामक एक बहुत बड़ा, मार्मिक करुण-काव्य लिखा था, उसकी एक-एक लाइन में बिजली भरी हुई थी, खेद है, वर्माजी की लापरवाही से वह न-जाने कहाँ खो गया ! अतः उसका कुछ अंश 'परिचय' में न दिए जा सकने का मुझे अपरिमित क्षोभ है।]

जनार्दनप्रसाद झा

'द्विज'

जन्म-काल—२४ जनवरी १९०४ ई०   जन्म-स्थान—रामपुरडीह

गाँव—रामपुरडीह,

पो० शाहकुण्ड, भागलपुर

वह अन्तःकुटी का द्वार खोल कर प्रणय का अलख
गाता है; अपने अदृश्य प्रियतम की सुप्त स्मृति को जागृति
लिये संचित कामनाओं की धूनी रमाता है। उसके अलख
ा सूत्र मंत्र यह है—

"हाँ खूब जला दे रह न जाय अस्तित्व; और जब वे आवें
चरणों पर दौड़ लिपट जानेवाली केवल 'विभूति' पावें।"

न्तु वह "विभूति" छोड़ कर स्वयं अदृश्य हो जाना चाहता
फिर इस 'अलख' की सार्थकता ही क्या?

नहीं, वह प्रियतम को दूरागत संदेश देता है—सृष्टि का
र्माण ऐसी ही विभूतियों से हुआ है, एक दिन सभी का
वन 'विभूतियों' में लुप्त हो जायगा; तुम भी लुप्त होगे और मैं
। बस, हमारा अनन्त सम्मिलन निश्चित है।

हाँ, वह प्रणय का आशावादी तपस्वी है।

पथिक से —

पथिक ! रुक जा क्षण भर को और, सुनाये जा फिर से वह गान—
मिली जिसमें है मेरी 'आह' तथा उनकी निष्ठुर मुसकान ।
व्यथातुर मुझ दुखिया के भग्न हृदय का मधुमय करुण-विहाग—
सुनाये जा, कुछ कम हो जाय सतत झुलसाने वाली आग ।
मिलें वे या न मिलें, हो जाय हृदय में धड़कन-सृष्टि नवीन ।
मुझे कर दे—फिर से वह गान सुना—उस पावन-स्मृति में लीन ।
चरण-रज हो जाऊँगा, क्या न करेगा यह विनती स्वीकार ?
पथिक ! गा फिर से—ले उपहार, नयन के ये मोती दो-चार ।

—

अज्ञात

कौन तू उर-निकुंज में बैठ, मृदुल स्वर में गा गा यह गीत—
जगाता निष्ठुरता से छेड़, बता क्यों मेरा सुप्त अतीत ?
थिरकने चंचल गति से आह ! लगी हृत्कम्पन पर तव तान !
विकलता के चरणों पर झुका,—रहा कर क्यों मेरा बलिदान ?
"देख अपने ही भीतर पैठ, कौन मैं ?"—कह इतनी ही बात ।
घात-हत तरु-सा कर विच्छिन्न मुझे क्यों चला कहाँ "अज्ञात ?"

—

भीख

सुमन-से कोमल उर में हाय ! चुभा कर निष्ठुरता के तीर—
किये तुमने हैं कितने घाव कहो दिखला दूँ छाती चीर ?
भयंकर-क्लेश, अनल की आँच, जलाती रहती है दिनरात।
हुआ असमर्थ, सहूँ किस भाँति, अधिक अब यह निष्ठुर आघात,
मिटावे मेरी पीड़ा कौन ? पड़ी किसको क्या है परवाह ?
तुम्हीं हो एक मिटा जो आज हृदय की सकता है यह दाह ॥
तुम्हारे ही चरणों पर नाथ ! हृदय रख देता हूँ निज खोल।
कृपा कर अपना पावन प्रेम मधुरतम-रस में दे दो घोल ॥

——

क्या मोल ?

भिगोया जिन-चरणों को नित्य, हृदय का सारा सार निचोड़ ।
चढ़ाई जिन पर मधु की राशि मृदुल नवजीवन-कलिका तोड़ ॥
उन्हीं से कुचली जातीं आज सजल वे ही आँखें सुकुमार ।
पड़ी पथ पर जो हैं बन दीन, निरखने उनका ही शृंगार ।
सदयता का करके संहार बने, 'वे' कितने निर्दय आज—
तुझे क्या बतलाऊँ ? ए विश्व ! बताते भी आती है लाज ॥
व्यथा का यह करुणामय दृश्य, वही आ देखेंगे उर-खोल ।
उन्हीं से पूछूँगा—"प्राणेश ! दुखी के जीवन का क्या मोल ?"

—

अतिथि से—

क्षण भर के सोये वियोग को छूकर दुख दूना न करो।
इस आतुरता से रोता-जीवन मेरा सूना न करो॥
रुको और पल-भर रुक जाओ, अन्तिम बार सदय हो लो।
मेरे हृदय-रक्त से अपनी स्मृति का धुँधलापन धो लो॥
भूल नहीं जाओ जिससे इस घर का तुम आना जाना।
मिलो जहाँ भी पड़े न परिचय में मुझको कुछ बतलाना॥

विकल-रुदन मेरे अधीर यौवन का शान्त किये जाओ।
चूम प्रकम्पित इन अधरों को, मधु का दान दिये जाओ॥
मधुर-मिलन-आशा-मदिरा से मतवाली आँखें कर दो।
हृदय-विपञ्ची के सोये तारों में आकुल-स्वर भर दो॥
वे बज उठें, लगो तुम गाने, और विसुध मैं हो जाऊँ।
अतिथि! 'इधर' जाओ तुम, जाकर मैं फिर तुम्हें उधर पाऊँ!!

—

अन्तर्ज्वलन से—

अयि अमर शान्ति की जननि जलन ! अक्षय तेरा श्रृङ्गार रहे !
जीवन-धन-स्मृति-सा अमिट निरन्तर तेरा मेरा प्यार रहे ।
धधकें लपटें अन्तरतर में, तेरे चरणों पर शीश झुके ।
तूफ़ान उठें अङ्गारों के—हर-प्रलय--सृष्टि का स्रोत रुके ।
हाँ, खूब जला दे ! रह न जाय अस्तित्व;—और जब 'वे' आवें ।
चरणों पर दौड़ लिपट जाने वाली केवल 'विभूति' पावें ! !

——

श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त लिखित काव्य-ग्रन्थ।

भारत-भारती

यह ग्रन्थ हिन्दी में अपने ढंग का पहला ही काव्य है। इसमें भारत के अतीत गौरव और वर्तमान पतन का बड़ा ही मर्म्म-स्पर्शी वर्णन है। हिन्दू-विश्व-विद्यालय में यह पुस्तक बी० ए० के कोर्स में है। नवम आवृत्ति ; सुलभ संस्करण, मूल्य ।)

जयद्रथ-वध

वीर और करुण-रस का यह अद्वितीय काव्य है। इसे पढ़कर हृदय मुग्ध हो जाता है। यह पुस्तक पञ्जाब की टेक्स्टबुक कमिटी से लाइब्रेरियों में रखने तथा मध्यप्रदेश की टेक्स्टबुक कमिटी से लाइब्रेरियों में रखने तथा इनाम में देने के लिये स्वीकृत है। पटना यूनिवर्सिटी के इन्ट्रेन्स और मध्यप्रदेश तथा बरार के नार्मल स्कूलों के कोर्स में भी सम्मिलित है। चौदहवां संस्करण। मू० ॥)

चन्द्रहास

यह पौराणिक नाटक है। मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है। रङ्गमञ्च पर सफलता पूर्वक खेला जा चुका है। द्वितीयावृत्ति। मूल्य ॥।)

तिलोत्तमा

यह भी गद्य-पद्यात्मक पौराणिक नाटक है। इसमें देव-दानवों के

युद्ध की कथा है। अनैक्य से दुर्जय दानवों का पतन किस प्रकार हुआ, यह देखने ही योग्य है। तृतीयावृत्ति। मूल्य ॥)

शकुन्तला

महाकवि कालिदास के "शकुन्तला" नाटक के आधार पर इस काव्य की रचना हुई है। यह पुस्तक कई जगह कोर्स में है। चतुर्थ-संस्करण। मूल्य ।≈)

रङ्ग में भङ्ग

यह एक ऐतिहासिक खण्ड-काव्य है। करुण और वीर रस से परिपूर्ण है। आर्य्य-रमणी के सतीत्व की गाथा पढ़कर आपका मस्तक ऊँचा होगा; और मातृभूमि के ऊपर अपने को निछावर कर देने वाले वीर के वृत्तान्त से आपका हृदय भक्ति से गद्गद हो जायगा। इस पुस्तक का नवाँ संस्करण हो रहा है। मूल्य ।)

किसान

इस काव्य में कवि ने किसानों की दयनीय दशा का चित्र खींचा है। विदेशों में भारतीय कुलियों के साथ जैसा अन्याय-अत्याचार होता है, उसे पढ़कर आपकी आँखों से अश्रुपात होने लगेगा और हृदय आत्मग्लानि से भर जायगा। तृतीयावृत्ति। मूल्य ।=)

पत्रावली

इसमें कविता-बद्ध ऐतिहासिक पत्र हैं। इसकी कविता देश-प्रेम

के भावों से भरी हुई है। सभी पत्र ओज और माधुर्य्य से ओत-प्रोत हैं। द्वितीय संस्करण है। मूल्य ।-)

वैतालिक

भारतवर्ष में जो नवीन अरुणोदय हो रहा है, उसी के सम्बन्ध में यह कवि का उद्बोधन-गीत है। इसकी कोमल-कान्त-पदावली आप-को मुग्ध किये बिना न रहेगी। मूल्य ।)

पञ्चवटी

यह काव्य रामायण के एक अंश को लेकर लिखा गया है। कवि ने इसमें जिस सौन्दर्य्य की सृष्टि की है, वह बहुत ही मनोमोहक है। यदि आपने इसे अभी तक नहीं पढ़ा है तो आप हिन्दी के एक उज्वल रत्न से वञ्चित हैं। मूल्य ।=)

अनघ

यह एक गीति-नाट्य है। इसका कथानक बौद्ध-जातक से लिया गया है। भगवान् बुद्ध ने अपने पूर्व जन्म में एक बार ग्राम्य-संगठन और नेतृत्व किया था इसमें उसी का विशद-वर्णन है, जो हमें इस आधुनिक युग में भी बहुत कुछ सिखाकर आगे बढ़ा सकता है। यह ग्रन्थ हिन्दी में बिलकुल नए ढंग का है। मू० ।।।)

स्वदेश-सङ्गीत

इसमें गुप्तजी की लिखी हुई भिन्न भिन्न विषयों पर राष्ट्रीय कविताएँ हैं। गुप्तजी की राष्ट्रीय कविताएँ बहुत भाव-पूर्ण और ओजो-

मय होती हैं। इसे पढ़कर स्वदेश-प्रेम, जातीयता और आत्म तेज से हृदय भर जाता है। मूल्य ॥।)

हमारे यहाँ के अन्यान्य काव्य-ग्रन्थ

विरहिणी-व्रजाङ्गना

बँगला के महाकवि मधुसूदन दत्त के "व्रजाङ्गना" नामक काव्य का यह सुन्दर पद्यानुवाद है। इसमें विरहिणी राधिका के मनोभावों का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन है। चतुर्थावृत्ति। मू० ।)

पलासी का युद्ध

महाकवि नवीनचन्द्र सेन का 'पलाशिरयुद्ध' बंगालियों का जातीय महाकाव्य है। उसी का यह हिन्दी-पद्यानुवाद भी हिन्दी में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। प्रसाद-गुण, ओज और माधुर्य्य से भरा हुआ यह काव्य, काव्य-प्रेमियों के बड़े आदर की वस्तु है। मू० १॥)

मौर्य्य-विजय

वीर रस पूर्ण खण्ड काव्य। इसमें दो हजार वर्ष पूर्व की भारतवर्ष को एक गौरव-पूर्ण विजय का वर्णन है। पञ्चमावृत्ति। मू० ।)

अनाथ

यह भी एक खण्डकाव्य है। इसका कथानक करुणा-पूर्ण है। किसानों पर कैसे कैसे अत्याचार होते हैं, यह पढ़कर अश्रुपात हुए बिना न रहेगा। द्वितीयावृत्ति। मू० ।)

साधना

इसके लेखक राय श्री कृष्णदासजी हिन्दी के उन वर्द्धमान सुलेखकों में से हैं जिनसे हिन्दी-साहित्य को बहुत कुछ आशा है। उनका यह गद्य काव्य अपने ढंग का एक ही ग्रन्थ है। मू० १)

संलाप

लेखक, राय श्री कृष्णदास जी। यह पुस्तक भी अपने ढंग की बिलकुल नई है। लेखक महोदय प्रसिद्ध कला-प्रेमी हैं। इस पुस्तक में उन्होंने अपनी कला-कुशलता बहुत ही सुन्दर रूप में प्रदर्शित की है। मू० ।=)

मेघदूत

कवि-कुल-गुरु श्री कालिदास के विख्यात "मेघदूत" काव्य का यह सरस हिन्दी-पद्यानुवाद पं० केशवप्रसादजी मिश्र ने किया है। मूल के भावों की रक्षा बड़ी योग्यता से की गई है। मूल्य ।)

सुमन

श्रद्धेय पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी की फुटकर कविताओं का संग्रह। रचना की उत्कृष्टता के विषय में लेखक का नाम ही यथेष्ट है। खद्दर की सुन्दर जिल्द। मू० १)

अजातशत्रु

लेखक—श्री जयशंकर 'प्रसाद'; मूल्य १) है। यह नाटक

हिन्दी में बहुत प्रसिद्धि पा चुका है। इसे हिन्दू विश्व विद्यालय अपने एफ़० ए० के कोर्स में सम्मिलित किया है। हिन्दी-साहित्य इसे विशेष स्थान प्राप्त है। बहुत मनोरंजक और आह्लादकर पुस्त है। इस वार मूल्य घटा कर एक रुपया कर दिया गया है। अव पढ़िए।

आँसू

यह कविता-पुस्तक हिन्दी में बिलकुल नई चीज़ है। भावों की सूक्ष्मता और गंभीरता, प्रांजलता और प्रौढ़ता अनुभव किये जाने के ही योग्य है। 'प्रसाद' जी की यह नवीन रचना है। मूल्य ।)

प्रतिध्वनि

यह भी 'प्रसाद' जी की नवीन गल्प-पुस्तक है। लेखक महोदय छोटी छोटी कहानियाँ लिखने के लिए भी प्रसिद्ध हैं। इस पुस्तक की सभी कहानियाँ सरस, मनोहर और भाव-मूलक हैं। मूल्य ।=)

प्रबन्धक—साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)

हमारे यहाँ से निम्न लिखित पुस्तकें

शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली हैं—

मेघनाद-वध

आधुनिक समय के भारतीय सफल साहित्यकों में से बंगाल के महाकवि माइकेल मधुसूदन दत्त का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उन्हीं के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य "मेघनाद-वध" का यह हिन्दी पद्यानुवाद हिन्दी के लिये गौरव की वस्तु है। अनुवादक ने मूलकवि के गाम्भीर्य, ओज और भाव-कौशल को बड़ी ही योग्यता से रक्षित किया है। हिन्दी-प्रेमी बहुत दिनों से इस ग्रन्थ की प्रतीक्षा कर रहे थे। ऐसी चीज़ किसी भी साहित्य को गौरवान्वित कर सकती है। मूल्य लगभग ३॥)

वीराङ्गना

यह भी मधुसूदन दत्त के "वीराङ्गना" नामक बङ्गला काव्य का हिन्दी-पद्यानुवाद है। इस काव्य में भी "मेघनाद-वध" महाकाव्य के प्रायः सभी गुण हैं। मूल्य लगभग ॥।)

हिन्दू

श्री मैथिलीशरण गुप्त कृत नवीन काव्य। मूर्छित हिन्दू जाति को उठाने के लिये लेखक ने इस काव्य में जो सतेज और गम्भीर गान गाया है वह गाँव गाँव, और घर घर में गूँज जाना चाहिए। मूल्य ॥)

शक्ति

यह गुप्तजी का नवीन पौराणिक काव्य है। इसमें असुरसंहारिणी महाशक्ति का जैसा सुन्दर वर्णन है वह उपभोग करने के ही योग्य है। मूल्य ।)

प्रबन्धक—

साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)
